कर्म-फल सिद्धान्त

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

॥ ओ३म् ॥

कर्म-फल-सिद्धान्त

लेखक

मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता

स्व० श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

भूमिका

उपाध्याय जी जन्मजात दार्शनिक थे। दर्शन तथा सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेकों उच्चकोटि के ग्रन्थ उन्होंने लिखे ।

पाप, पुण्य, दुःख, सुख, मृत्यु, पुनर्जन्म, जीव व ब्रह्म का सम्बन्ध विषयक अनके प्रश्नों पर इस पुस्तक में युक्तियुक्त सप्रमाण प्रकाश डाला गया है। 'कर्म-फल-सिद्धान्त' को बार-बार पढ़ने को आपका मन करेगा । प्रश्नोत्तर शैली में अत्यन्त शुष्क विषय को उपाध्याय जी ने बहुत रोचक व सरल-सुबोध बना दिया है ।

कर्म-फल-सिद्धान्त पर छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें हैं, परन्तु उपाध्याय जी की यह पुस्तक अपने विषय की अनुपम कृति है । उपाध्याय जी ने स्वयं ही इसका उर्दू अनुवाद किया था ।

उपाध्याय जी की कौन सी दार्शनिक पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है, यह निर्णय करना किसी भी विद्वान् के वश की बात नहीं है । बस यही कहकर सब गुणियों को सन्तोष करना चाहिए कि अपने स्थान पर उनकी प्रत्येक पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है ।

ज्ञान-पिपासु पाठक, उपाध्याय जी के सदा ऋणी रहेंगे ।

–प्रकाशक

विषय-सूची

कर्म-फल-सिद्धान्त

कर्म का मूलाधार

प्रश्न—कर्म के सिद्धान्त का मूलाधार क्या है ?

उत्तर—कर्म का सिद्धान्त दो दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित है । प्रथम जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और फल पाने में अपने कर्म के आश्रित है । दूसरा फल का दाता ईश्वर है, जो अपनी व्यवस्था के अनुसार जीव के किये हुए कर्मों के अनुपात से फल देता है ।

प्रश्न—संसार में बहुत से लोग हैं, जो कर्म के सिद्धान्त को भूल-भूलैयाँ कहते हैं और उस पर विश्वास नहीं रखते ।

उत्तर—मूल सिद्धान्तों से कोई इनकार नहीं करता सब मानते हैं कि जो जैसे कर्म करता है वह वैसा फल पाता है । नास्तिक से नास्तिक लोग भी सदाचार की इस मौलिक भित्ति का निषेध नहीं करते । यदि यह सिद्धान्त न माना जाय तो संसार का एक क्षण भी काम नहीं चल सकता हाँ शाखारूप में जो प्रश्न उठ खड़े होते हैं, उन प्रश्नों का भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न उत्तर देते हैं । कुछ लोगों ने कुछ कल्पित धारणाएं बना रखी हैं । वे धारणाएं उनको ठीक सोचने में सहायता नहीं देतीं । अर्थात् यदि किसी ने पहले से यह मान रखा है कि ईश्वर नहीं है या जीव अजर, अमर या अजन्मा नहीं है या पुनर्जन्म नहीं होता तो इन कल्पनाओं की उपस्थिति में उसके आगे कर्म के सिद्धान्त को मानने में बाधा पड़ेगी परन्तु फिर

भी उसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शुभ कर्म का फल अच्छा होता है और अशुभ का बुरा। सम्भव है कि शुभ-अशुभ कर्मों के लक्षणों में वह भेद करे, परन्तु कर्म-फल के मौलिक सिद्धान्त तो सर्वतन्त्र ही हैं। एक नास्तिक भी अपने पुत्र को खोटे कर्म करने पर सज़ा देता है और कहता भी है कि **"तूने अपराध किया। तुझ को दण्ड मिलेगा।" यह भी तो कर्म-फल ही है।**

ईश्वर न्यायकारी और दयालु है

प्रश्न—ईश्वर न्यायकारी है या दयालु ? और उसकी दया या न्याय का कर्म के सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—ईश्वर न्यायकारी है, क्योंकि ईश्वर जीव के कर्मों के अनुपात से ही उनका फल देता है—न्यून या अधिक नहीं।

परमेश्वर दयालु है, क्योंकि कर्मों के फल देने की व्यवस्था इस प्रकार की है जिससे जीव का हित हो सके। शुभ कर्मों का अच्छा फल देने में भी जीव का कल्याण है और अशुभ कर्मों का दण्ड देने में भी जीव का ही कल्याण है। इसलिये कर्म-फल का सिद्धान्त ईश्वर को दयालु भी प्रमाणित करता है और न्यायकारी भी। **दया का अर्थ है जीव का हितचिन्तन। और न्याय का अर्थ है उस हितचिन्तन की ऐसी व्यवस्था करना कि उसमें तनिक भी न्यूनता या अधिकता न हो।**

इसको दूसरे प्रकार से सोचिये। यदि जीव के कर्मों की अपेक्षा अधिक फल दिया जाय तो जीव में आलस्य और प्रमाद बढ़ेगा। इससे जीव का अनिष्ट होगा। यह दया न होगी और न न्याय। क्योंकि इससे जीव का अहित होगा। जिस काम का परिणाम अहित हो, वह न तो दया है और न न्याय। अमुक कर्म का कितना फल

होना चाहिये, इसका ठीक-ठीक परिगणन न्याय है और इस परिगणन का उद्देश्य जीव का हित है, यह है दया। न्यायाधीश दया से प्रेरित होकर न्याय करता है। वह समझता है कि यदि न्याय न करूँगा तो अहित होगा। यह अहित ही निर्दयता है।

दुःख व सुख दोनों ही हितकर

कल्पना कीजिये कि एक परीक्षक परीक्षार्थी को उसके कर्मों से अधिक अंक देता है। मूर्ख लोग इसको "दया" कहेंगे। परन्तु प्रथम तो यह अन्य परीक्षार्थियों के साथ अन्याय है और उनके साथ निर्दयता भी। दूसरे इस परीक्षार्थी के साथ भी निर्दयता हुई, क्योंकि उसका स्वभाव बिगड़ गया। ईश्वर दयालु भी है और न्यायकारी भी। इसलिये वह कर्मों का फल उनके अनुपात से ही देता है, कम या अधिक नहीं।

प्रश्न—परमात्मा दयालु होकर भी असह्य दुःखों को क्यों देता है ?

उत्तर—दयालु ईश्वर प्रिय जीव को अशुभ कर्मों से छुड़ाना चाहता है। जब दुःख असह्य हो जाते हैं तो जीव को मूर्च्छा आ जाती है। मूर्च्छा में असह्य से असह्य दुःख सह्य हो जाते हैं परन्तु दुःखों की विद्यमानता अशुभ कर्मों को छुड़ाने में सहायक होती है। दुःख और सुख दोनों आत्म-विकास पर प्रभाव डालते हैं। यद्यपि यह प्रभाव बहुधा अदृष्ट और अमीमांसनीय रूप में होता है। इसको आप एक मोटे उदाहरण से जान सकते हैं। याद रखिये कि उदाहरण मोटा है। इसको इतना ही समझिये। शरीर में स्वस्थता और रोग दोनों ही जन्म के आरम्भ से ही लगे रहते हैं। इन दोनों का शरीर के विकास पर प्रभाव पड़ता है। स्वस्थता अपनी शैली से शरीर

का विकास करती है और रोग अपनी शैली से अनिष्ट पदार्थों को शरीर से निकालने में सहायक होते हैं। स्वस्थता और रोग दोनों ही शारीरिक विकास के लिये आवश्यक हैं। ऐसे ही सुख दुःख के ऊपर घटाइये।

ईश्वर की व्यवस्था

प्रश्न—जब समस्त सृष्टि ईश्वर की व्यवस्था के आधीन है और हम सब भी सृष्टि के अंग हैं तो सत्यासत्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य, कर्म और भोग की विवेचना की उलझनों में क्यों पड़ना? होगा तो वही जो ईश्वर की व्यवस्था के भीतर है।

उत्तर—ईश्वर की व्यवस्था जड़ और चेतन के लिए एक सी नहीं है, सृष्टि की जटिलतम समस्या यह है कि जड़ और चेतन में भेद किया जाये। ईश्वर की व्यवस्था जहाँ जड़ चीज़ों पर पूरा आधिपत्य रखती है वहाँ चेतन चीज़ों को अपने कर्म क्षेत्र में पूरी पूरी स्वतन्त्रता भी है। सृष्टि के निर्माण में चेतन शक्तियों का पूरा पूरा साझा है। नैसर्गिक शक्तियों का चेतन शक्तियाँ निर्वचन पूर्वक-प्रयोग किया करती हैं। चींटियों के चिटोंहर, बया के घोंसले, भेड़ियों की मांदें, और सहस्त्रों अन्य जीवों की बनाई हुई चीज़ें यही बताती हैं कि चेतन जीव ईश्वर-नियन्त्रित नियमों का निरन्तर विवेचना पूर्ण उपयोग किया करते हैं और सृष्टि में परिवर्तन किया करते हैं। सभ्य जातियों के नगर, सड़कें आदि इस बात की सूचना देते हैं कि जिस सृष्टि में हम रहते हैं वह केवल ईश्वर निर्मित ही नहीं है उसमें मनुष्य तथा अन्य प्राणियों का भी साझा है। बया जो घोंसला बनाती है उसमें घोंसला निर्माण की कला चाहे कितनी ही स्वाभाविक और स्वतन्त्रता शून्य अथवा शिक्षानपेक्षित क्यों न हो उसकी सामग्री

के जुटाने आदि में पक्षी को पर्याप्त निर्वाचन करना पड़ता है । अतः जीव की कर्म करने में स्वतन्त्रता सुरक्षित है । **सृष्टि के प्रयोजन ही दो हैं । जीव का भोग और जीव का कर्म ।** सृष्टि इन दोनों प्रयोजनों के लिये सर्वथा उपयुक्त है । भोग का परिणाम है बौद्धिक विकास । उस विकास का प्रभाव पड़ता है कर्त्तव्यता के निर्वाचन पर । उससे उत्पन्न होते हैं कर्म । कर्म के अनुकूल होता है भोग। यह शृङ्खला कल्पित नहीं है अपितु सहज ही में जानी जा सकती है । बच्चा उत्पन्न होते ही भोग पाता है । भोगों से उसकी बुद्धि का विकास होता है, उसी के अनुसार यह निर्वचन करके कर्तुम्, अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं की स्वतन्त्रता का प्रयोग करता है, **हर कर्म पीछे से भोग उत्पन्न करता है ।** उस भोग से आगे का विकास होता है । यह चक्र कभी बन्द नहीं होता, हम केवल इस चक्र से घबड़ाने या उस पर विश्वास न करने या उसकी ओर से आँख मूंद लेने मात्र से इस चक्र से छुटकारा नहीं पा सकते । हाँ इस चक्र को समझकर यदि हम ठीक रीति से अपने कर्त्तव्यों का पालन करें तो अवश्य ही हमारी उन्नति हो सकती है। परिस्थितियाँ कितनी ही निश्चित क्यों न हों उस निश्चितता के भीतर भी जीव की स्वतन्त्रता की गुञ्जाइश है । जेल में कैदी पूर्ण रूप से कैदी है फिर भी कैदी को कैद में करने के लिये जो काम दिया जाता है उसके करने में वह अपना विवेक प्रयुक्त कर सकता है। अच्छा करने पर अधिकारी सन्तुष्ट रहते हैं । अन्यथा उनकी अप्रसन्नता होती है और कभी कभी दण्ड भी प्राप्त होता है । **अतः सिद्ध है कि जेल का कैदी भी कर्म करने में स्वतन्त्र और भोग में परतन्त्र है।** स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य की सीमाएं अवश्य भिन्न हैं और होनी भी चाहिये क्योंकि यह भी

तो कर्मों का फल है । श्रेष्ठ पुरुषों को लोक में भी निकृष्ट लोगों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता रहती है । पुलिस चोर पर दृष्टि रखती है साह पर नहीं, ये सब मानवी कार्य नैसर्गिक नियमों का अनुकरण मात्र हैं ।

जीव को बनाया ही क्यों ?

प्रश्न—परमात्मा ने ऐसा जीव क्यों बनाया जो कर्म करने में स्वतन्त्र है ? यदि हम को यह आज़ादी न होती तो हम पाप न करते और दु:खरूपी फल के भागीदार न होते ।

उत्तर—आपने अधूरी बात सोची । यदि स्वतन्त्र न होते तो पुण्य भी न करते और सुख भी नहीं मिलता । परीक्षार्थी स्वतन्त्र होता है तभी तो अच्छा परचा करने पर पुरस्कार पाता है अन्यथा पुरस्कार कैसा ? दूसरी सोचने और याद रखने वाली बात यह है कि कर्मवाद जीव को ईश्वर द्वारा उत्पन्न नहीं मानता । यदि ईश्वर ने जीव को बनाया होता तो बीसियों उल्झनें उत्पन्न हो जातीं अर्थात् जीव के अस्तित्त्व, उसके कर्मों, उसके स्वातन्त्र्य आदि का उत्तरदायित्व केवल ईश्वर के ही सिर होता । ईश्वर ने हम को पाप करने में सशक्त बनाया ही क्यों ? यदि ईश्वर हमारी जीभ को ऐसा बनाता कि वह सच्च बोलने के लिये ही खुलती, झूँठ के लिये खुलती ही नहीं, तो हम झूँठ बोल ही न सकते ।

प्रश्न—आपने तो ग़ज़ब कर दिया । क्या जीव ईश्वर का बनाया नहीं ? यह तो ईश्वर पर दोष लगाना है ।

उत्तर—गजब नहीं । तथ्य यही है । किसी युक्ति से इससे भिन्न बात सिद्ध नहीं होती । यदि ईश्वर जीव को बनाता तो दोषी ठहरता । क्योंकि यह समस्त सृष्टि उसके बनाये हुए जीवों के लिये

होती । प्रश्न होता कि जीव को बनाया ही क्यों ? अपने लिये या अन्य के लिये । अन्य कोई था नहीं अतः अपने लिये तो ईश्वर स्वार्थी सिद्ध होता । जो ऐसा मान बैठे हैं (बहुत से आस्तिक इसी भ्रम में हैं) । वे यह नहीं बता सकते कि ईश्वर ने ऐसी दुःखमयी सृष्टि क्यों बनाई ? इसी प्रकार जो लोग जीव को ईश्वर का केवल अंश मात्र मानते हैं वह भी कर्मवाद पर पूर्ण विचार नहीं करते । जीव को ईश्वर का अंश मानना तो ईश्वर को अखण्ड और अखण्डनीय मानने से इनकार करना है । यह दोष ईश्वर पर लागू होगा । **ईश्वर का एक अंश पाप करे और दूसरा उसको दण्ड दे ।** बेटे ने दवात की स्याही फैला दी । बाप ने उसके चाँटा मारा। दोनों ही ईश्वर के अंश थे । ऐसी काल्पनिक बात तो कल्पना मात्र है । हम को वर्तमान सृष्टि की बात सोचनी चाहिये । काल्पनिक सृष्टि की नहीं।

प्रश्न—आपकी यह बात विचित्र सी लगती है ।

फिर सृष्टि की उत्पत्ति किसके लिये ?

उत्तर—विचित्र सी इसलिये लगती है कि लोगों ने विचित्र विचित्र कल्पनाएं कर रखी हैं । ये वातावरण में फैली हुई हैं । अतः उनसे भिन्न तथ्य को लोग विचित्र कहते हैं । आप सोचिये और शास्त्र का अध्ययन कीजिये तो आप सत्यता को जान सकेंगे । हम तो ऐसी बात कह रहे हैं जिसको आप युक्तियों के आधार पर सोच सकते हैं ।

क्या केवल एक ही सत्ता मानकर आप इस प्रपंच की व्याख्या कर सकते हैं । यदि आप अपनी सृष्टि बनाना चाहें तो जिस प्रकार हो सके अपने मन की सन्तुष्टि कर लें परन्तु यदि इस वर्तमान सृष्टि के मूलाधार में जो तत्त्व हैं उनकी खोज करना चाहते हैं तो आपको

इस परिणाम पर पहुँचना पड़ेगा कि जीव एक अनादि अजन्मा सत्ता है । उसी के लिये सृष्टि रची जाती है । **यदि जीव अल्पज्ञ न होता तो भी सृष्टि की आवश्यकता न होती । यदि अनादि न होता तो न जीव के निर्माण की आवश्यकता थी न सृष्टि की । यदि सर्वज्ञ ईश्वर न होता तो सृष्टि को जीवों की आवश्यकताओं की अपेक्षा से बनाता कौन ?** अन्यान्य धर्म वालों ने जो ईश्वर से इतर किसी सत्ता को अनादि और अमर मानना ईश्वर का अपमान समझते हैं ईश्वर का स्वरूप भी अपने मन से घड़ा और सृष्टि का स्वरूप भी । अपने स्वरूप को तो वह भूल ही गये। उन्होंने ईश्वर-विश्वास के अत्युक्ति-पूर्ण अभिमान में यह भी न सोचा कि यदि हम न हुए तो धर्म की किसको और क्या आवश्यकता ? यदि मैं स्वतन्त्र अजर अमर और अजन्मा आत्मा नहीं तो अध्यात्म का क्या अर्थ ? जो लोग कर्मवाद में उलझनें पाते हैं वे इसी कारण कि उन्होंने जीव के अजरत्व और अमरत्व को नहीं समझा । यदि जीव की उत्पत्ति मान ली जाये तो **उत्पत्ति का सहचर सुख या दुःख बिना किसी कर्म या कारण के प्राप्त हुआ मानना पड़ेगा ।** इससे कर्म-फलवाद की जड़ कट गई तो भविष्य में सदाचार की भी जड़ कट जायेगी । फिर शुभाशुभ का कोई आधार ही न रहेगा। सत्यं शिवं सुन्दरम् का न कोई स्वरूप रहेगा न आधार । ईसाई मुसलमान आदि धर्मों में यूनानी दर्शनकारों के अनुकरण से जीव को अनित्य और उत्पत्ति वाला मान लिया गया । इसके दुष्परिणाम यह हुए कि जीव की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई । जीव ईश्वर के हाथ का खिलौना बन गया सृष्टि उत्पत्ति के लिये कोई युक्तियुक्त कारण नहीं रहा। ईश्वर जो चाहे सो कर सकता है ऐसा मान लिया गया, फिर भी

अपने कर्मों द्वारा सृष्टि उत्पत्ति तथा शुभाशुभ के पचड़े से छूट न पाये और मनघड़न्त युक्तियों से समाधान करना पड़ा। यह भी समाधान न था अपितु तसल्ली मात्र थी। न तो कर्म-फलवाद माने बिना आचार-शास्त्र की नींव सुदृढ़ हो सकती है और न जीव को अनादि और कर्म करने में स्वतन्त्र माने बिना कर्म-फलवाद की पुष्टि हो सकती है।

क्या ईश्वरेच्छा बिना पत्ता नहीं हिलता ?

प्रश्न—कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता।

उत्तर—पत्ता हिले या न हिले परन्तु झूठे की जीभ तो बिना ईश्वर की इच्छा के ही हिल जाती है। यदि ईश्वर की इच्छा से ही झूठा झूठ बोलता हो तो उसको झूठ बोलने का पाप क्यों लगे ? यदि एक चोर किसी के बाग़ में चोरी करने जाय और आम के वृक्ष को हिलाकर आम तोड़ लावे तो आम के समस्त पत्ते भी ईश्वर की इच्छा के बिना हिल सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि पत्ते आदि जड़ चीज़ें स्वयं नहीं हिलतीं किसी न किसी चेतन मनुष्य, पशु, पक्षी के हिलाने से हिलती हैं, तथापि यह कहना ठीक नहीं कि कोई पत्ता बिना ईश्वर की प्रेरणा या इच्छा के नहीं हिलता। **जब कोई जड़ वस्तु किसी अन्य चेतन की प्रेरणा के बिना हिलती पाई जाय, तब समझ लेना चाहिये कि यह ईश्वर की प्रेरणा से हिली है।**

प्रश्न—यदि चेतन क्षुद्र जीव ईश्वर की प्रेरणा के विरुद्ध भी चीज़ों को हिला डुला सकते हैं तो ईश्वर की व्यवस्था कहाँ रही?

उत्तर—इससे ईश्वर की व्यवस्था में बाधा नहीं पड़ती। हम

पहले इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि ईश्वर की व्यवस्था ही ऐसी है कि किसी जीव के उचित स्वातन्त्र्य में बाधा न पड़े। यदि जीवों का उचित स्वातन्त्र्य बाधित हो गया तो मानो न्याय-व्यवस्था भी नष्ट हो गई और यह सृष्टि कर्म-क्षेत्र न रहकर कठपुतली का खेल हो गया।

प्रश्न—आपने 'उचित' स्वातन्त्र्य क्यों लिखा ? क्या अनुचित स्वातन्त्र्य भी होता है ? और क्या ईश्वर की व्यवस्था 'अनुचित' स्वातन्त्र्य को घटने नहीं देती ?

उत्तर—हाँ स्वातन्त्र्य अनुचित भी हो सकता है। उसको स्वातन्त्र्य न कहकर उच्छृङ्खलता या अनियन्त्रण अथवा अनियमता कहते हैं। इसका एक स्थूल उदाहरण देश के राजनीतिक शासन में दृष्टिगोचर होता है। हर शासन में जनता को कुछ न कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त है परन्तु ऐसे भी लोग हैं जो शासन भंजक (Lawless) हैं और उनको दण्ड मिलता है अथवा उनकी स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। इसी नियम को सृष्टि के साथ भी लागू कर सकते हैं।

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और फल पाने में परतन्त्र--

प्रश्न—जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और फल पाने में परतन्त्र है, इसका क्या अर्थ है।

उत्तर—इसका अर्थ यह है कि किसी काम के करने में जीव को पूर्ण अधिकार है कि उसे करे, या न करे या उलटा करे। मैं बोलूँ या न बोलूँ या अपशब्द बोलूँ। इन तीनों बातों का मुझे अधि कार है, परन्तु जब बोल चुका तो काम हो चुका। परिस्थिति मेरे हाथ से निकल गई। उसका परिणाम मुझे भोगना पड़ेगा। यदि मुझे कोई बात कहनी चाहिये थी और मैं समय आने पर चुप रहा तो

भी मुझे उसकी हानि भोगनी पड़ेगी। यदि मैं झूठ बोला या किसी को गाली दे दी तो उसका भी दुष्परिणाम भोगने में मैं परतन्त्र हूँ। काम की पूर्ति के पहले तो मेरा अधिकार था। अब जगत् के व्यवस्थापक के हाथ में चला गया। मैं सर्वथा परतन्त्र हूँ। गीता में यही कहा है कि-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म-फलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

अर्थात् मनुष्य का कर्म करने का अधिकार है। कर्म ज्यों ही समाप्त हुआ, उसका फल कर्म करने वाले के हाथ से निकल ईश्वर की व्यवस्था का अङ्ग बन जाता है। आपको अधिकार है कि आप आम बोवें या जामुन परन्तु जब आप बो चुके तो जगत् नियन्ता की व्यवस्थानुसार आम के बीज से आम के ही अंकुर, आम के ही पत्ते, आम के ही फूल और आम के ही फल निकलेंगे, जामुन के नहीं। आप तो काम करने के पश्चात् ही परतन्त्र हो जाते हैं। अतः आपको चिन्ता उसी समय तक करनी है, जब तक काम समाप्त नहीं हुआ। उसके पश्चात् कर्मफल की चिन्ता व्यर्थ है। आम का बीज बोकर बीच में जामुन के पत्तों की इच्छा निरर्थक है। इसलिये न तो कर्म-त्याग से काम चलता है और न कर्म के पश्चात् फल की चिन्ता से। **कर्त्तव्य का न करना भी अशुभ है और उलटा करना भी अशुभ।**

प्रश्न—मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र तो नहीं है। जगत् के बनाने वाले ने मनुष्य को परिस्थितियों से इतना जकड़ दिया है कि उनके विरुद्ध मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता। अतः मनुष्य को 'स्वतन्त्र' कहना मिथ्या है। हम को व्यर्थ ही स्वतन्त्र कह कर हमारे

कर्मों के लिये दण्ड दिया जाता है । मनुष्य प्रपंच के हाथ में खिलौना है । हम दैव के हाथ की कठपुतली हैं । वह जैसे चाहे नाच नचावे।

जीव कठपुतली नहीं–

उत्तर–यह ठीक नहीं । आप थोड़ा सा अपने जीवन पर विचार कीजिये । क्या कभी आप के मन में किसी काम के करने की भावना उठती है ? क्या कभी आप के हृदय में यह प्रश्न उठता है कि मैं अमुक काम करूँ या न करूँ ? और क्या आप परिणामों पर विचार करके बुद्धि से तोल कर यह निश्चय नहीं करते कि मैं ऐसा करूँगा ऐसा न करूँगा ? यदि ऐसा करते हैं तो सिद्ध है कि आप कर्म करने में स्वतन्त्र हैं । आप के समक्ष एक ही मार्ग नहीं अनेक मार्ग हैं और उनमें से निर्वाचन करके केवल एक ही मार्ग को ग्रहण करते हैं और शेष को छोड़ देते हैं ।

प्रश्न–आप तो स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों से चिपटे हुए हैं या तो यह मानिये कि संसार की समस्त चीज़ें किसी नियन्ता के वश में हैं, उसके विरुद्ध पत्ता भी नहीं हिल सकता या यह मानिये कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है । दो परस्पर विरोधी बातें कैसे ठीक हो सकती हैं ?

उत्तर–जिनको आप परस्पर विरोधी बातें कहते हैं वह परस्पर विरोधी हैं नहीं । केवल समझ का फेर है । मित्रता और विरोध के अर्थों में भेद है । पीलापन और लाली परस्पर विरुद्ध नहीं परन्तु अंधेरा और उजाला परस्पर विरुद्ध हैं । जहाँ और जब उजाला होगा अंधेरा न होगा । इसी प्रकार जीव की स्वतन्त्रता की सीमा है और ईश्वर के नियन्त्रण की भी सीमा है । ज़रा सा विचार कीजिये । आप बोलते हैं, आपकी जीभ आपके आधीन है, आप उस जीभ

से शुभ और अशुभ दोनों बोल सकते हैं । कभी आज़मा लीजिये। ईश्वर का जीभ पर इतना नियन्त्रण है कि आप उससे स्वतन्त्रता पूर्वक काम ले सकें । जीभ पर आपका तो कोई नियन्त्रण नहीं । आपने उसे बनाया नहीं न आपके हाथ में है कि उस जीभ में कोई दोष आ सके । फिर भी वह आपकी जीभ है । आप उसको अपनी इच्छा के अनुसार प्रयुक्त कर सकते हैं । इससे स्पष्ट है कि आप किसी सीमा तक ईश्वर के नियन्त्रण में हैं और किसी सीमा तक स्वतन्त्र हैं । यह स्वातन्त्र्य आपकी स्वयम् अनुभूति है आपकी कल्पना नहीं। एक उदाहरण लीजिये—एक नदी है । उस पर पुल बंधा हुआ है। उस पुल के दोनों तरफ़ आदमी के कद के बराबर ऊँची बाड़ लगी हुई है । आप चलने में स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी । उन बाड़ों के बीच आप मज़े से चल सकते हैं दौड़ सकते हैं परन्तु बाड़ों को पार नहीं कर सकते । जिसने पुल बनाया उसने आपको एक सीमा तक स्वतन्त्रता दी । उसके बाहर परतन्त्र कर दिया । यह सब आपकी भलाई को दृष्टि में रख कर किया गया । इसी प्रकार नियन्ता ने भी सृष्टि की ऐसी व्यवस्था कर दी कि आपके स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों की सीमा बनी रहे । यह नियन्ता की बुद्धिमत्ता और कल्याण का सूचक है । आप सर्वथा परतन्त्र होते तो आपका विकास न होता। आपको अपनी बुद्धि के प्रयोग का केई अवसर न मिलता ? यदि **आप सर्वथा स्वतन्त्र होते तो आप बुरा काम करके भी भला फल चाहते** । दूसरी बात यह है कि जीव एक नहीं है । सब को पूर्ण स्वतन्त्रता देना कल्पना मात्र है । एक की स्वतन्त्रता दूसरे की परतन्त्रता का कारण हो जाती है । **सड़क पर यदि सभी यात्री पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लें और उसका प्रयोग करने लगें तो**

एक गाड़ी, दूसरी गाड़ी से टकरा जाये अतः स्वतन्त्रता की सीमा भी होती है।

एक और उदाहरण लीजिये। परीक्षार्थी परीक्षा में बैठा हुआ है। प्रश्न-पत्र और उत्तर-पत्र उसके हाथ में है। वह स्वतन्त्र है कि किसी प्रश्न का जो चाहे उत्तर दे परन्तु दूसरे परीक्षार्थी से बात नहीं कर सकता, स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी। स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य की सीमाएं हैं। ये दोनों बातें परीक्षार्थी के हित को दृष्टि में रख कर नियत की गई हैं। परीक्षार्थी जो लिखेगा उसका फल अंक रूप में पाने में वह परतन्त्र है, परन्तु परीक्षा का समय भी नियत सीमा के भीतर है। आप क्या कहेंगे। परीक्षार्थी पूर्णतया स्वतन्त्र है या पूर्णतया परतन्त्र ? दोनों में से एक भी नहीं। जब जीव अनेक हैं तो वे पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हो सकते। हाँ केवल एक दशा में हो सकते हैं। अर्थात् जब उन जीवों का विकास इतना उच्चतम हो जाये कि वह तन्त्र या नियम को स्वयं समझने लगें और उनका उल्लंघन करें ही नहीं। यदि सब परीक्षार्थी अत्यन्त विश्वासपात्र हो जाएं तो निरीक्षकों की आवश्यकता न पड़े। यदि सभी जीव पूर्ण ज्ञानी या मुक्त हो जाए तो किसी को किसी से डर न रहे। यदि सभी नागरिक पूर्ण शिक्षित और विचारशील हो जाए तो सड़कों की मोड़ों पर पुलिस के पहरे की आवश्यकता न हो। फिर तो सृष्टि की ही आवश्यकता न पड़े परन्तु जिस सृष्टि की हम विवेचना कर रहे हैं उसमें अल्पज्ञ जीव हैं जो विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों पर हैं, अतः उनकी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की भी सीमाएं हैं और वे सीमाएं कर्मवाद को पुष्ट करती हैं उनको काटती नहीं।

प्रश्न—स्वतन्त्रता कब उचित होती है कब अनुचित ?

उत्तर—सृष्टि के निर्माण का उद्देश्य जीवों का विकास है। विकास के लिये ऐसी परिस्थिति चाहिये जिसमें जीव अपनी बुद्धि को लगा सके। अर्थात् जिसमें उसे यह सोचने का अवसर मिले कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। यदि मनुष्य अपनी इस स्वतन्त्र बुद्धि को यथेष्ट रीति से प्रयुक्त करता है तो उसकी परिस्थिति शनैः शनैः विशद होती जाती है। परन्तु यदि वह बुद्धि को निकृष्ट रीति से प्रयुक्त करता है तो स्वतन्त्रता तो रहती है परन्तु वह स्वातन्त्र्य परिस्थिति को नित्य प्रति दूषित करता रहता है। इस सृष्टि की व्यवस्था में हर एक बात की सीमा है। जब स्वातन्त्र्य इस सीमा को पहुँच जाता है कि आगे जीव की स्वतन्त्रता अन्य जीवों की परतन्त्रता का कारण बन सके तो स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। सृष्टि का नियम कहता है "बस यहीं तक ! आगे नहीं।" आप इसको कई प्रकार के उदाहरणों से जाँच सकते हैं। आप को मिठाई प्रिय है। आप खा सकते हैं। कितनी ? जितनी जी चाहें। आप स्वतन्त्र हैं। मिठाई की मात्रा को निर्धारण करने में एक लड्डू खाइये, दो खाइये, चार खाइये। आपके समक्ष लड्डूओं का थाल रक्खा है। आपको मज़ा आ रहा है। आप खाते चले जा रहे हैं। पेट तन गया परन्तु आपका खाना बन्द नहीं हुआ। सृष्टि का नियम आप को पूर्ण स्वतन्त्रता दे रहा है, आप को वह रोकता नहीं परन्तु एक ऐसी सीमा आ जाती है कि आप अति कर गये। भीतर से ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी ने लड्डू का मज़ा कम कर दिया है लड्डू वही हैं परन्तु मज़ा चला गया। अब आप चाहें तो भी नहीं खा सकते। सृष्टि के विधान ने आप को परतन्त्र कर दिया। इसलिये कि आपने अनुचित स्वतन्त्रता को काम में लाना चाहा।

इतिहास बताता है कि बहुत से डाकुओं ने बचपन से छोटे छोटे कामों में स्वतन्त्रता का अनुचित प्रयोग किया । वे बढ़ते गये। पहले ठग बने, फिर छोटे डाकू, फिर बड़े आक्रमणकारी, फिर देशों को नष्ट करने वाले विजेता । यह सब स्वातन्त्र्य के कारण हुआ परन्तु एक सीमा आई । कुदरत ने कहा– "बस आपकी परीक्षा हो चुकी । अब हम आपको एक इंच बढने न देंगे ।" अब उनका पतन आरम्भ हुआ । जो नैपोलियन कहा करता था कि "असम्भव" शब्द मूर्खों के कोष में ही मिल सकता है **वह जब सेण्ट हैलीना के छोटे और कष्टप्रद टापू में कैद था तो उसे मनमाना खाना भी नहीं मिल सकता था** । स्वतन्त्रता के प्रेम ने उसको उच्छृङ्खल कर दिया । **वह बढ़ा तो देश की स्वतन्त्रता को हाथ में लेकर और मरा दीन होकर** । इसी प्रकार छोटी बड़ी बहुत सी मिसालें हैं जो बताती हैं कि जीव स्वतन्त्र अवश्य है परन्तु स्वतन्त्रता की सीमा है । जब बच्चा चाकू से अपनी नाक काटने लगे तो पिता हाथ से चाकू छीनने के लिये मजबूर हो ही जायगा । परीक्षा-भवन में परीक्षार्थी परीक्षा-पत्र को लिखने में स्वतन्त्र है, मेज़ तोड़ने में नहीं । स्वतन्त्रता के भी नियम हैं ।

आप नहीं सब–

प्रश्न–वह स्वतन्त्रता कैसी जिसकी सीमा निर्धारित हो ? वह तो आगे चल कर परतन्त्रता हो गई।

उत्तर–आप सोचें । जब हम कहते हैं कि आप कर्म करने में स्वतन्त्र हैं तो "आप" से हमारा तात्पर्य केवल आप से नहीं है । सब जीवों से है । **हर एक को पूर्ण स्वतन्त्रता मिल नहीं सकती जब तक स्वतन्त्रता की सीमा बांधी न जाये** । कल्पना कीजिये

कि हर मनुष्य को हर समय बिना रोक टोक सड़क पर से गुजरने की आज्ञा दी जाय और एक ही समय में दो मनुष्य उस अधिकार का प्रयोग करना चाहें, तो क्या परिणाम होगा ? आप दोनों परस्पर टकरा जाएंगे, और आप दोनों की स्वतन्त्रता आप दोनों की परतन्त्रता का कारण बन जायेगी। जिसको आप स्वतन्त्रता कहते हैं वह स्वतन्त्रता न रह कर घोर रूप होगा निकृष्टम परतन्त्रता का। सोहन कहेगा "मोहन मुझे चलने नहीं देता।" मोहन कहेगा "सोहन मुझे चलने नहीं देता।" यह है स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग और सृष्टि-क्रम आप के हित के लिये ऐसी स्वतन्त्रता की रोक करता है। इसलिये जब तक मनुष्य स्वतन्त्रता का सदुपयोग करता जाता है वह स्वतन्त्र ही रहता है।

जीव शुभ कर्म या अशुभ कर्म क्यों करता है ?

प्रश्न–जीव शुभ या अशुभ कर्म क्यों करता है ?

उत्तर–कर्तृत्व जीव का स्वाभाविक गुण है। यह बिना कुछ किये रह ही नहीं सकता। जैसे आग कभी अपनी गर्मी को छोड नहीं सकती।

प्रश्न–जब कर्तृत्व जीव का गुण है तो वह अशुभ कर्म क्यों करता है ?

उत्तर–कर्म के लिये ज्ञान चाहिये। जीव स्वभाव से अल्पज्ञ है। उसको पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ज्ञान प्राप्ति की आवश्यकता है। यथार्थ ज्ञान न होने से वह भूल कर बैठता है। जैसे छोटा बच्चा दीपक की लौ पकड़ कर अपना हाथ जला बैठता है।

जीव का हित और कर्म फल–

प्रश्न–जीव का हित क्या है ? और उसके कर्मों का इस

हित से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जीव का हित है अपने स्वरूप को पहचानना। जीव संसार में आकर अपने स्वरूप को भूल जाता है। वह अपने को जड़ या जड़ पदार्थों के आश्रित समझ लेता है। इस बेसमझी से जो कर्म किये जाते हैं, वे अशुभ होते हैं। क्योंकि जितने अधिक ऐसे कर्म होते हैं उतना ही जीव उनमें फँसकर अपने स्वरूप को अधिक भूल जाता है परन्तु जितने कर्म ऐसे हैं जिनसे उसको अपने स्वरूप का परिज्ञान हो, वे शुभ हैं।

प्रश्न—ईश्वर की व्यवस्था जीव के कर्म-फल द्वारा उसके हित, अहित का कैसे सम्पादन करती है ?

उत्तर—यह तो प्रत्यक्ष है कि हमारी भूलें हम को सचेत करती हैं। एक बार जल कर बच्चा दीपक की लौ नहीं पकड़ता क्योंकि उसके अज्ञान में कुछ कमी हो गई। ऐसा ही सब कर्मों का हाल है।

कर्म-फल का रूप—

प्रश्न—परमेश्वर कर्मों का फल किस रूप में देता है ?

उत्तर—कर्मों का फल तो अन्ततोगत्वा सुख या दुःख के रूप में ही होता है परन्तु इस सुख या दुःख को देने के अनेक निमित्त हैं। वह निमित्त न सुख है न दुःख, परन्तु सुख या दुःख के साधन अवश्य हैं। यह जानना कठिन है कि अमुक निमित्त कब दुःख का साधक है और कब सुख का। यह व्यवस्था जटिल है। पूर्ण रूप से उसे ईश्वर ही जानता है परन्तु विद्वान् भी अपने अनुभव से तर्क द्वारा या शास्त्र द्वारा इसको जान सकता है।

प्रश्न—बात स्पष्ट नहीं हुई। उदाहरण से समझाइये ?

उत्तर—सिर दबाना एक निमित्त है। इससे सुख और दुःख

दोनों हो सकते हैं । समय और परिस्थिति के अनुसार ही इसका निर्णय होगा । इसी प्रकार बहुत सी घटनाएं है, जो कभी एक मनुष्य के सुख का साधन होती हैं और कभी दुःख का और कभी एक मनुष्य के सुख का साधन होती हैं और कभी दूसरे के दुःख का । ऐसे उदाहरण सब को मालूम हैं ।

प्रश्न—ईश्वर जीव को उसके कर्मों का फल देता है अथवा अन्य के कर्मों का भी ?

उत्तर—ईश्वर जीव को उसी के कर्मों का फल देता है अन्य का नहीं । क्या परीक्षक परीक्षार्थी के अतिरिक्त किसी अन्य परीक्षार्थी के किये हुए कामों के लिये भी अंक देगा ? ऐसा करना तो अन्याय होगा । अर्थात् कर्म किया देवदत्त ने और उसका फल मिले यज्ञदत्त को । यह दया भी न होगी, क्योंकि जीव के भविष्य निर्माण का आश्रय दूसरे व्यक्ति पर होगा । यदि एक जीव के कर्मों का फल दूसरे को मिलने लगे तो व्यवस्था भी न रहेगी । अन्य जीव तो असंख्य हैं । किस किस के कर्मों का फल किस किस को दिया जायेगा? यदि सोहन के काम पर मोहन को अंक दिये गये तो सोहन के साथ अन्याय होगा । अतः ईश्वर किसी को उसी के कर्मानुसार फल देता है, दूसरे का नहीं ।

प्रश्न—कर्म का फल किस रूप में मिलता है ?

उत्तर—फल के केवल दो ही रूप हैं सुख या दुःख । शुभ कर्मों का फल सुख है अशुभ कर्मों का दुःख । चिरस्थायी और दुःखरहित सुख को आनन्द कहते हैं । स्वर्ग वह अवस्था है जिसमें सुख ही सुख हो, नरक वह अवस्था है जिसमें दुःख अत्यन्त अधिक हो ।

कर्म-फल की व्यवस्था

प्रश्न—क्या ईश्वर की कर्म-फल के सम्बन्ध में कोई नियत व्यवस्था है या ईश्वर जब जैसा चाहे करता है ?

उत्तर—ईश्वर की सभी व्यवस्था नियत और अपरिवर्तनशील है। उसमें किञ्चित् भी अदल-बदल नहीं होती। समस्त जीवों को उसी व्यवस्था के अनुसार फल मिलता है।

प्रश्न—यदि व्यवस्था-रूपी मशीन पूर्णतया नियत है तो ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता ? सृष्टि-क्रम हम को व्यवस्था की सूचना तो देता है; परन्तु ईश्वर को तो हम नहीं देखते ? हम को प्रयोजन व्यवस्था से है, व्यवस्थापक से नहीं, यदि ईश्वर को न भी मानें तो व्यवस्था वैसी ही रहेगी। उसमें परिवर्तन न होगा।

उत्तर—यह ठीक है कि व्यवस्था निश्चित और अपरिवर्तनशील है परन्तु जो मनुष्य व्यवस्था को स्वीकार करता और व्यवस्थापक को छोड़ देता है, वह अज्ञान का दोषी है। अज्ञान बड़ा भारी दोष है। इसका परिणाम बुरा होता है। व्यवस्थापक को भूल जाने से व्यवस्थापक के गुणों के लिये भी प्रेम नहीं होता। जो मनुष्य व्यवस्थापक-शून्य जड़ व्यवस्था को मानते हैं वह अपने चेतन स्वरूप को भूल कर जड़-बुद्धि हो जाते हैं। उनमें व्यवस्थापक के शुभ गुणों का संचार नहीं होता।

यह माना कि व्यवस्था के अनुसार जीव को अपने कर्मों का उतना ही फल मिलेगा, चाहे व्यवस्थापक के माने या न माने व्यवस्थापक के न मानने से अथवा उसे भुला देने से सब से बड़ी हानि यह होगी कि जीव की गुण-शीलता कम हो जायेगी और जीव के भावी ज्ञान तथा कर्म पर उसका प्रभाव पड़ेगा। न्यायाधीश तो

न्याय ही करेगा, चाहे दूसरा उसके व्यक्तित्त्व को स्वीकार करे या न करे परन्तु तात्कालिक कर्म-फल की प्राप्ति के अतिरिक्त न्यायाधीश के व्यक्तित्त्व का सम्पर्क भी एक चीज़ है, जिससे वह मनुष्य वञ्चित रह जायेगा जो केवल तात्कालिक न्याय से ही सम्बन्ध रखना चाहता है और न्याय की पृष्ठ पर न्यायाधीश को देखना नहीं चाहता ।

कालिदास के काव्यों से कालिदास बड़ा है । काव्यों से कालिदास की उस महत्ता का भी परिचय मिलता है, जो काव्यों से कहीं उच्चतर है । जो मनुष्य काव्यों मात्र को जड़ समझकर कालिदास के निज गुणों का पता लगाना नहीं चाहता, वह अधूरा है और प्रमुख लाभ से वञ्चित रह जाता है । यह ठीक है कि ईश्वर हमारे किये हुए कर्मों का उतना ही फल देगा कम या अधिक नहीं, परन्तु ईश्वर के व्यवस्थापक होने का विश्वास जीव में अन्य गुणों के धारण करने की योग्यता भी प्राप्त करायेगा, जो उसके भावी कर्मों पर प्रभाव डालेगी । ईश्वर को भूल कर केवल जड़ व्यवस्था को मानने वाले जड़वादी होकर अन्ततोगत्वा जड़ात्मक हो जाते हैं । और उनमें आध्यात्मिक सम्पर्क की कमी हो जाती है ।

यदि हम ईश्वर को व्यवस्थापक न मानकर केवल व्यवस्था तक ही अपने को सीमित रखेंगे तो ऐसी व्यवस्था एक ज्ञान शून्य जड़ यन्त्र के समान हो जायेगी और चेतन जीवन अचेतन यन्त्र के आधीन हो जायेगा । इससे व्यवस्था शब्द ही निरर्थक हो जायेगा । चेतन सर्वज्ञ व्यवस्थापक पर विश्वास करने से हमारे आत्मा में अध्यात्मभाव की जागृति होती है, हम समझने लगते हैं कि एक महाचेतन सत्ता ने हमारे हित को ध्यान में रखकर ही एक अटल

और निश्चित व्यवस्था की स्थापना की है ।

कुछ लोग समझते हैं कि यदि ईश्वर की व्यवस्था निश्चित है और उसमें किसी परिवर्तन की सम्भावना नहीं तो ईश्वर की चेतनता नष्ट हो गई परन्तु यदि व्यवस्था को परिवर्तनशील माना जाय तो ईश्वर में उच्छृङ्खलता का दोष आयेगा । इस दोष से बचने का यही मार्ग है कि ईश्वर की व्यवस्था को ज्ञानानुकूल तथा निश्चित माना जाये। व्यवस्था को निश्चित करना भी तो ज्ञान का ही फल है । क्योंकि कर्म करने वाले के कर्म के शुभ या अशुभ होने की जाँच के बाद ही तो फल की व्यवस्था होगी ।

निमित्त और कारण

प्रश्न—निमित्त और कारण का भेद समझ में नहीं आया । जो घटना किसी कार्य से ठीक पूर्व हो उसको निमित्त भी कह सकते हैं और कारण भी ।

उत्तर—ऐसा मानना भूल है । हर एक कार्य से पहिले असंख्य घटनाएं हुआ करती हैं । उन को कोई कारण नहीं मानता । कल्पना कीजिये कि दत्तू डाकू को कई हत्याओं के फलस्वरूप फाँसी दी गई । फाँसी लगी १० अक्टूबर को ८ बजे प्रातः काल । हत्याएं हुईं तीन साल पूर्व । फाँसी के क्षण से पूर्व उस फाँसी के स्थान में तथा अन्य स्थानों में लाखों घटनाएं हुईं । फाँसी देने वाले ने गले में रस्सी डाली, कई सम्बन्धी रोने लगे । जेल के डाक्टर ने परीक्षा के लिये तैयारी की । और बीसियों घटनाएं तत्क्षण हुईं । क्या उनको आप फाँसी का कारण कहेंगे ? कदापि नहीं । फाँसी देने वाले ने जो क्रियाएं कीं वह फाँसी का कारण नहीं । हाँ निमित्त अवश्य हैं । जो फाँसी का मूल कारण है वह फाँसी के क्षण से बहुत पुरानी

बात है । अन्य बहुत सी घटनाएं हैं जैसे—कौवे का बोलना या जेल के किसी कुत्ते का भोंकना जो न निमित्त हैं न कारण । अतः किसी क्रिया से पूर्व जो घटनाएं घटित हुईं वे तीन प्रकार की हो सकती हैं । कारण हों, निमित्त हों या न कारण हों न निमित्त; अपितु उस कार्य से सर्वथा असम्बद्ध हों ।

एक और दृष्टान्त लीजिये । मोहन डाकिये ने आप को ५०) का एक मनीआर्डर दिया । उसी क्षण या केवल एक क्षण पूर्व आपका कुत्ता भौंक पड़ा । अब प्रश्न यह है कि आप की धन प्राप्ति का कारण क्या है ? कुत्ते के भोंकने का धन प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं । मोहन का आना निमित्त मात्र है। मनीआर्डर भेजने वाले का काम मनीआर्डर की प्राप्ति का मूल कारण है ।

प्रश्न—क्या निमित्त बदल सकते हैं ? अर्थात् क्या एक कार्य के कई निमित्त हो सकते हैं ?

उत्तर—अवश्य ! यह सम्भव था कि मनीआर्डर मोहन डाकिया न लाता बलदेव डाकिया लाता। इससे आप के कर्म-फल में कोई बाधा न पड़ती । पचास रुपये के दस दस के पाँच नोट न होते, पाँच पाँच के दस या एक एक के पचास नोट होते । आप के लिये परिणाम एक सा ही था । निमित्त और कारण को एक ही समझ लेने से बहुत सी भ्रान्तियाँ पैदा हो जाती हैं ।

प्रश्न—हिरोशिमा में अमेरिका वालों का बम गिरा ओर लाखों मर गये । बम इनकी मृत्यु का कारण था या निमित्त ?

उत्तर—कारण तो मरने वालों के कर्म ही थे । बम निमित्त था ।

प्रश्न—फिर अमेरिका वालों का क्या दोष ?

उत्तर–दोष यही है कि उन्होंने निमित्त को कारण समझा। यदि कारण न समझते तो बम फेंकने का इरादा भी न करते ।

प्रश्न–तो क्या इन सब लाखों आदमियों ने पाप किये थे जिनका फल एक साथ मृत्यु हुई ?

उत्तर–सम्भव है कि किसी के शुभ कर्म हों और किसी के अशुभ । इसका परिणाम तो मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है । यह कोई निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता कि जितने मरने वाले थे उन सब को अच्छी योनियाँ मिलीं या बुरी ही । जो जीव की नित्यता पर विश्वास नहीं रखते उनको तो यही मानना चाहिये कि मरने वाले झंझट से छूट गये । वे अभाव को प्राप्त हो गये । यद्यपि है यह सिद्धान्त अयुक्त ही परन्तु जो मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीव रहता है उनके पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं कि मरने वालों का भविष्य बुरा हुआ या भला । सम्भव है कि बहुत सों का बुरा हुआ हो और बहुत सों का भला । रही एक साथ अचानक मृत्यु की बात ! यह प्रश्न भी हमारी अल्पदर्शिता के कारण होता है । संसार में करोडों प्राणी हर समय मरते रहते हैं । एक नगर के बूचड़खाने में एक ही दिन प्रातः काल हज़ारों जानवरों की मृत्यु हो जाती है । और एक दिन में एक देश में न जाने कितने मनुष्य मर जाते हैं । भेद केवल इतना है कि एक स्थान पर जो हुआ वह हमारी आँखों के समक्ष हुआ ? और हम भयभीत हो गये ।

प्रश्न–कर्म-फल के सिद्धान्त और कारणकार्य के सिद्धान्त एक हैं या भिन्न ? यदि भिन्न हैं तो इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध भी है या नहीं, है तो क्या ? नहीं तो कैसे ?

उत्तर–कारण-कार्य का सिद्धान्त और कर्म-फल का

सिद्धान्त एक नहीं परन्तु उनमें सादृश्य अवश्य है। जिस प्रकार विशेष कारण से विशेष कार्य होता है और विशेष कार्य का विशेष कारण होता है, उसी प्रकार विशेष कर्म का विशेष फल होता है और विशेष फल विशेष कर्म का ही परिणाम होता है। तथापि कारण-कार्य का सम्बन्ध विशेषतः जड़ जगत् से है। **और कर्म-फल के सिद्धान्त का जड़ जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं।** जड़ जगत् में गति या क्रिया होती है परन्तु हम उस को कर्म नहीं कह सकते। न उसके विषय में गीता के वे श्लोक लागू कर सकते हैं, जैसे **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** इत्यादि। और न योगदर्शन के **'सति मूले तद्विपाकः'** आदि सूत्र। आग से धुँआ उत्पन्न होता है। आग कारण है धुँआ कार्य। मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है, मिट्टी कारण है घड़ा कार्य, परन्तु आग से धुँआ उत्पन्न होगा ही और मिट्टी से घड़ा बनेगा ही। यह नहीं कहा जा सकता है कि आग को धुँआ बनाने का अधिकार है या मिट्टी को घड़ा बनाने का। आग के वश में नहीं है कि धुँआ न बनावे। मनुष्य के वश में है कि चोरी करे या न करे। अतः चोरी मनुष्य का कर्म है और चोरी का दण्ड उस कर्म का फल। कार्य में कारण व्यापक रहता है, जैसे घड़े में मिट्टी या कंगन में सुवर्ण या धुँएं में आग परन्तु फल में कर्म व्यापक नहीं होता। कारण और कार्य का घनिष्ठ सान्निध्य है, कर्म और फल का नहीं। जहाँ जहाँ धुँआ है वहाँ वहाँ आग है परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जहाँ कर्म है वहाँ फल है। कारण में कार्य फिर लीन हो जाता है जैसे घड़ा टूट कर मिट्टी हो जाता है, परन्तु फल समाप्ति पर कर्म में लीन नहीं होता।

सादृश्य यह है कि कारण कार्य से पूर्व होता है और कर्म

भी फल से पूर्व । जैसे कार्य से पूर्व होने वाली प्रत्येक घटना उस कार्य का कारण नहीं इसी प्रकार से फल से पूर्व होने वाली प्रत्येक क्रिया भी उस फल का कर्म नहीं है । एक मनुष्य मर गया । यह दुर्घटना एक कार्य है । उसके मरने से ठीक पूर्व लाखों अन्य घटनाएं हुईं । कुत्ता भौंका, वृक्ष के पत्ते हिले, घड़ी का घण्टा बजा, रेलगाड़ी आई, छत गिरी परन्तु मृत्यु का कारण केवल एक था छत का गिरना। दूसरी सैकड़ों घटनाएं मृत्यु के कारण न थीं। इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु रूपी फल छत गिरने रूपी कर्म का फल था । क्योंकि छत का गिरना मरने वाले का कर्म नहीं था । मृत्यु रूपी फल किसी अन्य कर्म का ही रहा होगा, जो उसी मरने वाले व्यक्ति से सम्बन्धित होगा ।

न विज्ञान, न दर्शन–

कारण-कार्य और कर्म-फल के सिद्धान्तों में इतना सादृश्य है कि बहुधा हम एक दूसरे को मिला देते हैं । कारण-कार्य के निर्धारित करने में भी बहुधा भूलें होती हैं । बहुधा हम पहली किसी घटना को पिछली घटना का कारण समझ लेते हैं । जैसे हम किसी मुकदमे के लिये कचहरी जा रहे थे । घर से चलते समय किसी ने छींक दिया । हम मुकदमा हार गये । हम कहते हैं कि छींक हार का कारण थी । यह सर्वथा ग़लत है । सम्भव है कचहरी का फ़ैसला बहुत पहले ही हो चुका हो और हम को केवल पता न हो । इसी प्रकार किसी शत्रु ने कहा "अमुक का बेटा मर जाय" अकस्मात् बेटा मर गया । उसने सोचा कि शत्रु का कोसना कर्म था और बेटे का मरना फल । इस प्रकार के टोने-टोटके, कोसा कासी प्रायः होते रहते हैं । साधारण जनता में और काव्यों में इनका प्राचुर्य है । राजा

दिलीप ने कामधेनु को या स्वर्गीय गौ को प्रणाम नहीं किया। गौ ने शाप दिया। इसका फल हुआ यह कि दिलीप के सन्तान नहीं हुई। यहाँ न तो कार्य कारण का सम्बन्ध दीखता है, न कर्म फल का। जैसे बहुधा सार्वजनिक कल्पनाएं अवैज्ञानिक अथवा अदार्शनिक होती हैं, उसी प्रकार कवियों की कल्पनाएं भी। राजा पुरूरवा उर्वशी के वियोग में विलाप करता हुआ हंस को चलते देखता है और कहता है "रे हंस तू उर्वशी की चाल को चुरा लाया है। बता तो कि उर्वशी कहाँ है ?" यह काव्य कल्पना ही तो है। मोह, है, अज्ञान है। न विज्ञान है, न दर्शन।

क्रियमाण कर्म के आरम्भ से लेकर उसके पकते पकते प्रारब्ध तक पहुँचने और फलीभूत होने तक बहुत सी घटनाओं का सिलसिला रहता है, जिनमें कारण-कार्य सम्बन्ध रहता है परन्तु वे एक दूसरे का फल नहीं होतीं।

उदाहरण के लिये नीचे लिखी घटनाओं पर विचार कीजिये—

१—मोहन ने गोपाल के घर में चोरी की।

२—दो सौ रुपये उसके हाथ लगे।

३—उसने इन रुपयों के बदले आटा, घी, शक्कर ख़रीदे।

४—उसके परिवार ने उसको खाया।

५—सब ने मिलकर इस सुख को भोगा।

६—गोपाल ने पुलिस में रिपोर्ट की।

७—पुलिस ने जाँच के लिये आदमी लगाये।

८—जाँच चार मास तक होती रही, तब पता चला कि मोहन ने चोरी की है।

९—उस पर अभियोग चला जो चार महीनां तक जारी रहा।

१०—अन्त में अभियोग सिद्ध हुआ और न्यायाधीश ने उसे एक साल का दण्ड दिया ।

११—मोहन को पुलिस के लोगों ने कारावास में भेज दिया।

संक्षेप के लिये हमने सैकड़ों घटनाओं के केवल ११ विभाग कर दिये हैं । वस्तुतः चोरी कर्म है और कारागार फल । शेष सैकड़ों घटनाओं में से कुछ तो कुछ का कारण थीं कुछ असम्बद्ध भी रही होंगी । जैसे परिवार का हलवा खाना और पुलिस की रिपोर्ट परन्तु इनमें से किसी का कर्म और फल का सम्बन्ध नहीं था ।

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य

प्रश्न—कर्त्तव्य क्या है अकर्त्तव्य क्या है ?

उत्तर—एक उदाहरण पर सोचिये । राजभक्ति क्या है और राजद्रोह क्या है ? राज्य का शासन जिन मूल तत्त्वों के आधीन है उनका सहयोग करना राजभक्ति और उनके विपरीत आचरण करना राजद्रोह है। राज्य कर्मचारियों को अनुचित रिश्वत देना राजद्रोह है क्योंकि यह उन उन मूल तत्त्वों के विपरीत है जिन पर शासन आधारित है । राजा की खुशामद करना राजद्रोह है । क्योंकि शासन का मूल तत्त्व राजा के स्वेच्छाचरण की संतृप्ति पर आधारित नहीं है । कमज़ोर और स्वार्थी राजे कभी कभी असली राज्यभक्ति को राजद्रोह और राजद्रोह को राजभक्ति समझ लेते हैं परन्तु है यह समझ का फेर ।

इसी उदाहरण को विश्व पर घटाइये । विश्व के शासन के कुछ मूल तत्त्व हैं । और उनका असली प्रयोजन है जीवों का हित । अतः उन मूल तत्त्वों के साथ सहयोग करना कर्त्तव्यता या शुभ कर्म है । और उनमें विघ्न डालने का विचार करना अकर्त्तव्यता

या अशुभ कर्म है। इसी को पुरुषार्थी और अपुरुषार्थी कहेंगे। पुरुषार्थी का शाब्दिक अर्थ यह है 'पुरुष का अर्थ' अर्थात् 'जीव का हित'। जीव का हित भी वह नहीं जो जीव चाहे। मनुष्य चाहता तो बुरा भी है और भला भी। हित है अन्तिम आध्यात्मिक उन्नति का विकास। अतः यह सिद्ध हुआ कि हमारा जो कर्म हमारे विश्व के आध्यात्मिक विकास में सहायक हो वही पुरुषार्थ है ओर जो बाधक हो वह अपुरुषार्थ। बच्चा रोग में अनिष्ट चीज़ें खाना चाहता है। उनको जुटाना न तो बच्चे का हित है न अर्थ। अतः जो बच्चे की इच्छा पूर्ति को ही उसका हित समझता है वह भूल करता है।

जीव और बुद्धि

प्रश्न—हमारी बुद्धि हम को सदा सन्मार्ग पर तो नहीं ले जाती।

उत्तर—इससे क्या ? यह तो आपका काम है कि बुद्धि को किस प्रकार प्रयुक्त करें। केवल बुद्धि का प्रयोग मात्र ही आप की स्वतन्त्रता का द्योतक है।

प्रश्न—क्या ईश्वर ने किसी को अच्छी और किसी को बुरी बुद्धि देकर हम से विवेक की स्वतन्त्रता छीन नहीं ली ? यदि हम को श्रेष्ठ बुद्धि मिलती तो हम कभी असन्मार्ग का अवलम्बन न कर सकते।

उत्तर—परमात्मा ने अकारण ही आपको बुरी बुद्धि नहीं दी। आपने अपने विवेक शून्य कर्मों से भी बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। जो तराज़ू आपको मिली है, यदि वह आपकी असावधानी से टूट जाय तो दोष किस का ? फिर भी आपकी तराज़ू आपके हाथ में है। आप बुद्धि के प्रयोग करने के अधिकार से कभी वञ्चित नहीं

किये जाते । जब आपको मालूम हो जाय कि तराजू में बिगाड़ आ गया है तो आप उसे बना या सुधार सकते हैं । हर मनुष्य अपनी बुद्धि को ज्ञान, क्रिया तथा सावधानी से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बना सकता या बिगाड़ सकता है । शराब पीने से बुद्धि बिगड़ती और घी दूध आदि के उचित प्रयोग से बढ़ती है । अतः बुद्धि के तारतम्य का दोष जगत् के नियन्ता पर लगाना दोष है ।

प्रश्न—जब हमारी बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न हैं तो कर्म भी भिन्न-भिन्न होंगे और फल भी भिन्न-भिन्न । फिर स्वतन्त्रता कैसी ?

निर्वाचन के कई मार्ग—

उत्तर—यह ठीक है कि तीव्र बुद्धि वाला मनुष्य जो कर्म कर सकता है उसे मन्दबुद्धि नहीं कर सकता परन्तु मन्दबुद्धि वाले या तीव्र बुद्धि वाले मनुष्य के समक्ष निर्वाचन करने के लिये कई मार्ग खुले होते हैं या नहीं ? यदि होते हैं तो स्वतन्त्रता सिद्ध है । एक चींटी भी जानती है कि उसके समक्ष कई मार्ग हैं । वह सोचती है और एक मार्ग पर चल देती है । इसी प्रकार पशु-पक्षियों का हाल है । आपके आँगन में आने वाले कौए या अन्य पक्षी भी सोचते और एक मार्ग को छोड़ कर दूसरे का अवलम्बन करते हुए प्रतीत होते हैं । अतः सिद्ध है कि वे कार्य करने में स्वतन्त्र हैं । आप किसी कुत्ते को अपने स्वामी के साथ सड़क पर चलता हुआ देखें और निरीक्षण करें । आप को ज्ञात होगा कि कुत्ता निरन्तर सोच रहा है कि अब क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये ।

भाग्य प्रबल है या पुरुषार्थ

प्रश्न—भाग्य प्रधान है या पुरुषार्थ ?

उत्तर—पुरुषार्थ प्रधान है क्योंकि भाग्य भी तो पुरुषार्थ का ही फल है । जब तक कर्म न हो तो तब तक फल की प्राप्ति हो ही नहीं सकती ।

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा ।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा ॥

पुरुषार्थ कर्म है, भाग्य फल !

प्रश्न—तो पुरुषार्थ करते रहना चाहिये ।

उत्तर—यह ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि पुरुषार्थ क्या है और क्या पुरुषार्थ नहीं । **हर एक कर्म जो मनुष्य करता है पुरुषार्थ नहीं है न पारिभाषिक अर्थ में कर्म ही है ।**

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

विश्व में एक भ्रान्ति—

बहुत से लोग कुकर्मों को भी पुरुषार्थ समझते हैं । एक परीक्षार्थी का उदाहरण लीजिये । किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होना फल है जिसके पाने के लिए उसे यत्न करना है । उसका समस्त विहित विधान के अनुसार सावधानी से निरन्तर अध्ययन करना पुरुषार्थ है । अनिष्ट विधियों से परीक्षा भवन में नकल करना, परीक्षक को धमकी देना उस पर दबाव डालना या अन्य चालाकियाँ करना क्रियाएं (कर्म) तो हैं परन्तु उनको शुभ कर्म या पुरुषार्थ में नहीं गिन सकते। संसार में यह बड़ा भ्रम फैला हुआ है कि प्रत्येक चालाकी, मक्कारी और दग़ाबाज़ी को पुरुषार्थ समझकर लोग बुरे कर्मों में उलझे रहते हैं । उनका फल बुरा होता है । प्रायः सर्वसाधारण में तदबीर तकदीर के विवाद चलते रहते हैं । प्रायः चालाकी से की हुई दौड़ धूप को तदबीर या पुरुषार्थ समझ लिया जाता है । रिश्वत देना तदबीर, झूठ

बोलना तदबीर, चालाकी चलना तदबीर। जो रिश्वत न दे या चालाकी न चले उसको कहेंगे कि "यह सोता रहा, इसने तदबीर तो की ही नहीं। बिना पुरुषार्थ किये भी फल मिल सकता है क्या ?" इस प्रकार संसार में शुभ कर्म को पुरुषार्थ नहीं समझा जाता। इसी कारण पाप में पवृत्ति बढ़ती है और वह दुःखमूलक भी होती है। वस्तुतः कर्त्तव्य परायणता पुरुषार्थ है। अन्य सब अपुरुषार्थ या असली तदबीर का उल्टा मात्र।

योगदर्शन और कर्म-

प्रश्न-योगदर्शन में कर्म के विषय में दो सूत्र दिये हैं-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥

कर्म का मूल रहने पर जब वह पकता है तो जाति या जन्म, आयु और भोग के रूप में आविर्भूत होता है। यह जन्म आयु और भोग, पुण्य और पाप की अपेक्षा से सुख और दुःख रूपी फल वाले होते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्म का फल सुख या दुःख है या जन्म (जीवन) की इयत्ता और भोग। दूसरा प्रश्न यह है कि भोग सुख और दुःख से इतर क्या वस्तु है ? अथवा भोग का ही नाम सुख और दुःख है ? तीसरा प्रश्न यह है कि यदि कर्म का फल सुख या दुःख ही है तो 'जाति' और 'आयु' कहने की क्या आवश्यकता थी ? चौथा प्रश्न यह है कि क्या जाति, आयु और भोगों के पिछले कर्मों के अनुसार नियत होने पर आगे को स्वतन्त्र कर्म करने का कोई अवसर रहता है या नहीं ? क्या हमारा प्रत्येक कर्म केवल भोगों

के भोगने का ही एक प्रकार मात्र है ? इनको समझाइये ।

जाति, जन्म, आयु व भोग क्या ?

उत्तर—जाति, आयु और भोग ये तीनों तो 'जीवन' के ही एक प्रकार के अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं । मैंने मनुष्य, कुत्ता, या बिल्ली के रूप में जन्म लिया । यह हुई जाति अर्थात् एक विशेष योनि में मुझे डाला गया । मैं कुछ समय इसी योनि में रहूँगा । यह हुई आयु । दस वर्ष या साठ सत्तर वर्ष । इस आयु में मुझे भिन्न भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होंगी । ये हुए भोग । भोगों के हुए दो रूप सुख या दुःख परन्तु हमारी सब अनुभूतियाँ दुःख या सुख ही नहीं हैं । यद्यपि उनमें दुःख और सुख का समावेश रहता है । जीव केवल दुःख और सुख का ही भोक्ता मात्र तो है नहीं । कर्तृत्व और ज्ञातृत्व भी उसके गुण हैं । हम कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं । वह ज्ञान सुख या दुःख से इतर वस्तु है, यद्यपि एक ही प्रकार के ज्ञान से हम को कभी सुख और कभी दुःख होता है । एक मोटा उदाहरण लीजिये। कल्पना कीजिये मुझे यह ज्ञात हुआ है कि मेरे खेत में दस मन गेहूँ उत्पन्न हुआ । इस ज्ञान से मुझे दुःख और सुख दोनों हो सकते हैं । यदि मैंने सुना कि समस्त गाँव वाले किसानों के खेत में केवल पाँच मन ही हुआ और मेरे में दस मन तो मुझे सन्तोष होगा कि मेरे खेत की उपज कम नहीं है । यदि यह पता चले कि मेरे पड़ोसियों के खेत में १५ मन हुआ तो मुझे कुछ दुःख होगा कि मैं पीछे क्यों रह गया । यह "दस मन उपज" का ज्ञान तो एक सा ही रहा, परन्तु उसने कभी सुख और कभी दुःख उत्पन्न कर दिया । इसके अतिरिक्त हम कर्म भी निरन्तर ही करते रहते हैं और उनसे कभी सुख और कभी दुःख होता है । हमारे शरीर में पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ और पाँच

कर्मेन्द्रियाँ हैं । भोगेन्द्रिय कोई अलग नहीं फिर भी हर कर्म और हर ज्ञान कभी सुख और कभी दु:ख रूपी फल वाला होता है । इस प्रकार यद्यपि पुराने कर्म हम को जाति, आयु और भोग के रूप में फलित दृष्टिगत होते हैं परन्तु यह तो जीवन का ही विस्तार है । इनके अतिरिक्त जीवन स्वयम् एक अलग उद्देश्य रखता है । वह है कर्म और ज्ञान का । कहा गया है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती । (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः) ज्ञान का अर्थ है ज्ञान या अविद्या का नाश । इसकी दूसरी अर्थापत्ति है—अपने स्वरूप का ज्ञान या अपने स्वरूप के विषय में अज्ञान की निवृत्ति । यह ज्ञान की उपलब्धि और अज्ञान की निवृत्ति बिना कर्म किये तो होगी नहीं । कुछ कर्म तो करने ही पड़ेंगे । अत: जीवन का मुख्य उद्देश्य हुआ स्वतन्त्र कर्म और उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान या ज्ञानशक्ति। इसलिये जहाँ कर्म के विपाक का रूप जाति, आयु और भोग बताया वहाँ यह तो जीवन-रूपी साधन के अङ्गों का वर्णन किया । जीवन के उद्देश्य का वर्णन नहीं किया । इसलिये योगदर्शन में शिष्य को सतर्क करने के लिये अगला सूत्र पढ़ा—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

अर्थात् ज्ञानी मनुष्य के लिये तो यह सुख-दु:ख फल वाले जाति, आयु और भोग भी दु:ख ही हैं । अर्थात् ज्ञानी इनसे सन्तोष नहीं करते । इस सन्तोषाभाव के चार कारण बताये गये—

(१) **परिणाम**—अर्थात् ये सदा एक रस रहने वाले नहीं। इनका ठीक ही क्या है जो इनको सन्तोष का साधन समझा जाये।

(२) **ताप**—इनका सुख भी दु:ख-मिश्रित है ।

(३) **संस्कार**—यह मन पर प्रभाव छोड़ते हैं और मन की वृत्तियों को रंजित करते हैं ।

(४) **दु:ख**—इनसे साक्षात् दु:ख होता है । इनके अतिरिक्त आयु का समस्त वस्तुओं के साथ सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण सम्बन्धी प्राकृतिक गुण विरोध लगा हुआ है । अत: मनुष्य को इनसे सन्तुष्ट न रह कर कुछ ऊपर उठना और अन्तिम ध्येय की ओर सोचना है । साधनपाद में आगे चलकर सूत्रकार ने विभिन्न साधनों का उल्लेख किया है, जिससे मनुष्य यहीं तक न रह जाये ।

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड

प्रश्न—प्राय: हम कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड रूपी तीन काण्डों का नाम सुनते हैं। इन काण्डों का 'कर्म के सिद्धान्त' से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जीव का यह लक्षण है—**कर्तृत्वज्ञातृत्व-भोक्तृत्ववानणु: जीव इत्युच्यते** । जिसमें कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व ये तीनों गुण पाये जावें वह जीव या चेतन है । जड़ वस्तुओं और चेतन पदार्थों अर्थात् कीट पतंग से लेकर मनुष्यों तक में ज्ञान, क्रिया और सुख दु:ख (भाव) पाये जाते हैं । आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी मानवी मस्तिष्क की तीन विशेषताएं बताई हैं ज्ञान (Knowing या Cognition) सुख या दु:ख या भाव (Feeling या Affection), क्रिया या इच्छा शक्ति (Will या Volition) इनके तीन विभाग अलग अलग हैं । इन्हीं का नाम ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड है । उपासनाकाण्ड को भाव काण्ड भी कहते हैं । ये काण्ड तीन तो हैं परन्तु ऐसे नहीं हैं कि सर्वथा अलग अलग और असम्बद्ध हों । मानवी मस्तिष्क की ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व शक्तियों

को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि वे एक ही पदार्थ के तीन गुण हैं । इसी प्रकार ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और भावनाकाण्डों को भी सर्वथा अलग नहीं कर सकते । क्योंकि हर एक प्राणी के जीवन में ये काण्ड मिलेंगे । वह कुछ न कुछ जानने का यत्न करेगा यह हुआ ज्ञानकाण्ड । वह कुछ न कुछ करेगा यह हुआ कर्मकाण्ड। उसे कुछ न कुछ दुःख या सुख होगा यह हुआ उपासनाकाण्ड या भावनाकाण्ड । जिस प्रकार दीवार की लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई को दीवार से अलग करके नहीं दिखा सकते इसी प्रकार चेतन संज्ञाओं के ज्ञान, कर्म और सुख दुःख रूपी भावों को अलग करके नहीं दिखा सकते । फिर भी जैसे लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई को समझ सकते हैं कि ये तीन गुण हैं इसी प्रकार ज्ञान, कर्म और भाव को भी समझ सकते हैं ।

ज्ञानकाण्ड में सम्यक् ज्ञान, अधूरा ज्ञान, उलटा ज्ञान आदि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति आदि सभी आ जाते हैं । भ्रममूलक ज्ञान भी ज्ञानकाण्ड का ही भाग है । कर्मकाण्ड में मन तथा कर्म-इन्द्रियों द्वारा किये गये सभी शुभ और अशुभ कर्म शामिल हैं । अनेक प्रकार के दुःख, सुख तथा सर्वोत्कृष्ट आनन्द भी उपासना काण्ड या भाव काण्ड में सम्मिलित हैं ।

'कर्म के सिद्धान्त' में इन तीनों का समावेश है । अर्थात् जब हम स्वतन्त्रता से कर्म करते हैं तो हम विचार करते हैं कि कौन क्रिया करनी चाहिये, कौन न करनी चाहिये । इसमें ज्ञान या ज्ञातृत्वशक्ति का प्रयोग करना पड़ता है और जब सुख या दुःख रूपी फल मिलता है तो यह भावकाण्ड या उपासना- काण्ड के अन्तर्गत आता है । ज्ञानकाण्ड सम्बन्धी सर्वोत्कृष्ट विषय को **विद्या या विज्ञान**

कहते हैं । जिसमें भ्रम या अविद्या का कुछ भी अवशेष न रहे । कर्मकाण्ड के सर्वोत्कृष्ट विषय का नाम परोपकार है । जिसमें स्वार्थ का लेश मात्र भी न रहे । और भावना काण्ड के सर्वोत्कृष्ट विषय का नाम आनन्द है जिसमें दुःख किञ्चित् मात्र भी न रहे ।

ईश्वर के तीन काण्ड–

जीव भी चेतन है और ईश्वर भी चेतन है । ईश्वर में ये भी तीन काण्ड समझे जा सकते हैं। परन्तु ईश्वर पूर्ण ज्ञानी या सर्वज्ञ है । उसमें अविद्या है ही नहीं । उसका ज्ञानकाण्ड सर्वशुद्ध-ज्ञानमय है । मनुष्य के ज्ञानकाण्ड में उतनी शुद्धता नहीं पाई जाती । कुछ न कुछ अज्ञान, विपरीत ज्ञान या अधूरा ज्ञान रहता है । ईश्वर के कर्मकाण्ड में शुद्ध परोपकार है । स्वार्थ का लवलेश भी नहीं । उसके काम तो असंख्य हैं परन्तु स्वार्थ के लिये एक भी नहीं । सब दूसरों के लिये हैं । अतः शुभ और अशुभ का प्रश्न नहीं उठता । ईश्वर शुभ ही करता है । अशुभ करता ही नहीं । अतः उन कर्मों के सुख या दुःख रूपी फलों का भी प्रश्न नहीं उठता । उसका भावकाण्ड या उपासना काण्ड भी पूर्णतया शुद्ध और निर्मल है । उसके आनन्द में कभी कमी नहीं होती । अतः दुःख भी नहीं होता । मनुष्य को सुख होते हुए भी यह विचार करके कि यह सुख नष्ट हो सकता है दुःख की भावना बनी रह सकती है । इसलिये योगदर्शन में अन्य चेतनों से ईश्वर विलक्षण है । इस बात को दर्शाने के लिये यह सूत्र कहा गया–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

अर्थात् ईश्वर के कर्म शुभ और अशुभ दो भागों में नहीं बाँटे

जा सकते । अतः उसके कर्मों के सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध भेद भी नहीं होते । अतः कर्म विपाक भी नहीं होता । अतः कर्म का सिद्धान्त ईश्वर पर लागू नहीं होता । जैसे शासन का दण्ड विधान (Criminal code) केवल शुभ कर्म वालों के लिये नहीं है । अपितु उनके लिये ही है जो अशुभ कर्म करते या कर सकते हैं । उसी प्रकार कर्म के सिद्धान्त ईश्वर पर लागू नहीं होते । जो मनुष्य इन तीनों काण्डों के पारस्परिक सम्बन्धों को जानता हुआ अपने ज्ञान, अपने कर्म, और अपने भावों को सर्वोत्कृष्ट या लगभग ईश्वर के जैसा बना लेता है वह कर्म के बन्धन से छूट कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । उपनिषद् में कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थात् जब ईश्वर को सर्वव्यापक भाव से मनुष्य देख लेता है तो उसके हृदय की गाँठ खुल जाती है । सब संशय निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् उसका ज्ञानकाण्ड अविद्याशून्य निर्मल हो जाता है । इससे अशुभ कर्मों की सम्भावना नहीं रहती और सब कर्म (अर्थात् विपाक वाले) कर्म क्षीण हो जाते हैं । जब कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड निर्मल हो गये तो भावकाण्ड या उपासनाकाण्ड भी निर्मल हो जाता है । इसी को कैवल्य या मोक्ष कहते हैं ।

प्रश्न—लोग उसी को कर्मकाण्डी कहते हैं जो होम, यज्ञ आदि करता है । क्या अन्य कर्म जैसे कृषि, व्यापार, व्यवसाय भी कर्मकाण्ड का भाग हैं ।

उत्तर—इस विषय में जनता में भ्रान्ति है । होम आदि तो कर्म का एक भाग मात्र हैं । हमारे जीवन के सभी शुभ और अशुभ

कर्म कृषि, व्यवसाय, यहाँ तक कि चोरी, जारी आदि भी कर्मकाण्ड के अन्तर्गत हैं । जिनको पञ्चयज्ञ कहा जाता है उनमें केवल होम या हवन ही नहीं है । अन्य शुभ कर्म भी हैं । और उनमें ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समावेश है । मनुष्य के जीवन की कोई क्रिया या घटना इन तीनों काण्डों से बाहर नहीं है । कर्म का सिद्धान्त इन्हीं तीनों विभागों के संतुलन पर बल देता है । और अन्ततोगत्वा यह सब मोक्ष-प्राप्ति के लिये है ।

कर्म और आत्म-विकास

प्रश्न—यदि आत्मा का विकास या उन्नति ही सृष्टि का प्रयोजन है तो सुख या दुःख का आत्म विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

उत्तर—सुख-आत्मा का भोजन है, और दुःख औषध । सुखी होकर आत्मा इष्ट काम करने में उत्साहित होता है और दुःख उसको अनिष्ट काम करने से रोकते हैं । इस प्रकार सुख या दुःख दोनों आत्म विकास के साधन हैं ।

प्रश्न—क्या सुख पाकर मनुष्य आलसी, घमण्डी, असावधान तथा प्रमादी नहीं बन जाता और क्या दुःखों से मनुष्य को निराशा, मनोदौर्बल्य तथा आत्मग्लानि नहीं होती ।

उत्तर—कभी कभी ऐसा होता है परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य अपने को इस दुर्गुण से बचाता है परन्तु यदि सुख का सर्वथा अभाव हो तो जीवन कठिन हो जाये । दुःख भी एक सीमा से बाहर असह्य हो जाता है । दुःख का मुख्य उद्देश्य तो पाप की प्रवृत्ति को रोकना ही है और सुख का मुख्य उद्देश्य है पुण्य की प्रवृत्ति को विकसित करना परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य ही परिस्थिति का ठीक लाभ उठा

सकता है । इसीलिये कर्म करने के लिये बुद्धि के विकास की आवश्यकता है ।

सुख-दु:ख का ज्ञान-स्तर से सम्बन्ध-

प्रश्न-सुख और दु:ख का जीव के ज्ञान-स्तर से भी सम्बन्ध है या नहीं ?

उत्तर-है । आत्मा केवल सुख या दु:ख का बण्डल ही तो है नहीं । आत्मा के गुण तो छ: हैं। सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान तथा प्रयत्न । आप इनके द्वन्द्वों को एकीकरण करके तीन भाग कर सकते हैं । अर्थात् कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व । जीव ज्ञाता भी है, कर्त्ता भी है और भोक्ता भी । ज्ञातृत्व ज्ञान का सूचक है । कर्तृत्व कर्म या प्रयत्न का, सुख और दु:ख भोक्तृत्व का । इच्छा और द्वेष को सीमान्त प्रदेश समझिये । अर्थात् उनमें सुख के भोगने का ज्ञान और प्रयत्न दोनों विचित्र रूपेण सम्मिश्रित रहते हैं। इन छओं से मिलकर एक स्तर (level) बनता है । यह स्तर उत्तरोत्तर वृद्धि या ह्रास को प्राप्त हुआ करता है, जो जीव के ज्ञान और प्रयत्न के स्तर पर निर्भर रहता है । परन्तु ज्ञान और प्रयत्न दोनों पर सुख और दु:ख का प्रभाव पड़ता है ।

प्रश्न-प्राणी को किस चीज़ से दु:ख होता है और किस से सुख ?

सुख और दु:ख आन्तरिक हैं, बाह्य नहीं-

उत्तर-दु:ख और दु:ख के साधनों में भेद है । इसी प्रकार सुख और सुख के साधनों में भी भेद है । एक वस्तु न दु:खदायक है और न सुखदायक । उसी से सुख भी मिलता है और दु:ख

भी। संसार में यह भी एक भूल है कि जिसके पास सुख के साधन अधिक हों उसे सुखी समझ लिया जाय और जिसके पास वे साधन नहीं हैं उसको दुःखी। प्राणी झोपड़ी में सुखी और महलों में दुःखी देखा जाता है। **अत्यन्त रोगी को भी सुख की नींद सोता पाते हैं और पूर्ण स्वस्थ को भी चिन्ता-ग्रस्त देखा जाता है।** अतः ऊपरी उपकरणों को देखकर सुखी या दुःखी समझ लेना भूल है। सुख और दुःख आन्तरिक हैं, बाह्य नहीं। एक ही घटना एक प्राणी को सुख देती है और दूसरे को दुःख। 'अ' की मृत्यु से उसके मित्र दुःखी होते हैं और शत्रु सुखी। एक प्रकार की घटना कभी मुझे दुःख देती है और कभी सुख। अतः बाह्य साधनों को जुटाना ही पर्याप्त नहीं है। आन्तरिक वृत्ति भी होनी चाहिये। इन वृत्तियों के निर्माण में ज्ञान प्रयत्न और सुख दुःख सब का हाथ है।

प्रश्न—यदि सुख का उपकरण सदा सुख नहीं देता अथवा दुःख का उपकरण सदा दुःख नहीं देता तो उनको सुख का उपकरण या दुःख का उपकरण क्यों कहते हैं ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि साधारण परिस्थिति में यदि वृत्तियां सामान्य रहें तो उन उपकरणों को सुख या दुःख की उपलब्धि में लागू किया जा सकता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा हो ही जाय। रोटी से पेट भरता है और स्वास्थ्य उपलब्ध होता है परन्तु रोग भी हो सकता है। अतः कारण और उपकरणों में सदा विवेक करना आवश्यक है। केवल उपकरणों को जुटाने मात्र से सुख या दुःख नहीं मिल जाता। अतः उपकरणों को जुटाते समय यह भी देख लेना चाहिये कि उनसे सुख मिलता है या नहीं। इसी प्रकार दुःख के उपकरणों की प्राप्ति मात्र से घबरा नहीं जाना चाहिये।

दुःखों के घोर उपकरणों को भी अपनी मानसिक वृत्तियों द्वारा सुख का साधन बनाया जा सकता है । जैसे विष यद्यपि मृत्यु का उपकरण है, तथापि बुद्धि के प्रयोग से वह रोग की निवृत्ति का उपकरण बन सकता है ।

क्या समाज के कर्मों का फल भोगना पड़ता है ?

प्रश्न—क्या ईश्वर मेरे समाज के किये हुए शुभ या अशुभ कर्मों का मुझ को फल नहीं देता ?

उत्तर—समाज तो आपका स्वयं नियत किया हुआ है । आपकी अपनी कल्पना या व्यवस्था के अनुसार आपके समाज की भी सीमा है । समाज में तो अनेकों व्यक्ति होते हैं । अतः यदि समाज के शुभ या अशुभ कर्मों का आपको फल मिलने लगे तो घोर अन्याय हो जाय । प्रथम तो हर व्यक्ति का वश नहीं कि समाज के अन्य व्यक्तियों पर आधिपत्य कर सके । जिस पर मेरा वश नहीं, उस के कर्मों का फल मुझे क्यों मिले? ईश्वर की व्यवस्था, ईश्वर के न्याय और ईश्वर की दया तीनों में ऐसी बात बाधक होगी । अतः कर्म-फल का सिद्धान्त यही बताता है कि तुम जैसा करोगे वैसा पाओगे । 'तुम' का अर्थ है 'तुम व्यक्ति' न कि तुम से अन्य व्यक्ति । चाहे वह आपके समाज या देश के हों चाहे बाहर के ।

प्रश्न—क्या हम नहीं देखते कि हमारे मित्र हम को विपत्ति में सहायक होते हैं और हमारे शत्रु हमारे दुःखों को बढ़ाते हैं ?

उत्तर—यदि आप ईश्वर की व्यवस्था और ईश्वर के न्याय पर विश्वास रखते हैं तो मानना पड़ेगा कि आपको आपके ही कर्मों का फल मिलेगा, अन्य किसी का नहीं । वह व्यवस्था व्यवस्था नहीं कहलायी जा सकती, जिसके भीतर बिना दोष के कोई आपको सताने

में सफल हो सके या कोई मित्र आपको वह चीज़ भी दिला सके, जिसके आप अधिकारी नहीं ।

प्रश्न—आप हमारी आँखों में धूल डालना चाहते हैं । क्या हम नित्यप्रति नहीं देखते कि मित्र हमारा हित करते हैं और शत्रु अहित ?

उत्तर—बिगड़ने की कोई बात नहीं । सोचिये ! या तो यह मानिये कि ईश्वर की व्यवस्था इतनी अधूरी है कि कोई किसी व्यक्ति को वह सुख या दुःख भी प्राप्त करा सकता है जिसका वह अधिकारी नहीं, अथवा यह मानिये कि संसार में कोई न व्यवस्था है न व्यवस्थापक, अन्धेर नगरी है, जिसकी लाठी उसकी भैंस ।

प्रश्न—हम ईश्वर की व्यवस्था को भी स्वीकार करते हैं । और मित्र वा शत्रु के हित तथा अहित को भी ।

उत्तर—इन दोनों भावनाओं का समन्वय कैसे होगा ?

प्रश्न—यह समन्वय तो स्पष्ट है । यदि कोई शत्रु हमारा अहित करेगा तो ईश्वर उसे दण्ड देगा। इस प्रकार शत्रु का अहित भी सिद्ध हो गया और ईश्वर की व्यवस्था भी ।

उत्तर—आपने व्यवस्था का अर्थ ही नहीं समझा । जिस समय किसी शत्रु ने आपका अहित किया, उस समय आप उस अहित के अधिकारी थे या नहीं ? यदि अधिकारी थे तो शत्रु के अहित करने का प्रश्न नहीं उठता । और यदि अधिकारी न थे और आपको दुःख मिला तो इसका अर्थ यह है कि बिना कुकर्म किये हुए भी दुःख मिल सकता है । इससे ईश्वर की कुव्यवस्था का परिचय होता है । उस सरकार को आप अच्छा नहीं कह सकते, जहाँ चोरियाँ अधिक हो सकती हों, चाहे चोरों को घोर दण्ड ही क्यों न दिया

जाता हो ।

प्रश्न–तो क्या आप यह नहीं मानते कि मित्र हित करते हैं और शत्रु अहित ।

मित्र व शत्रु सुख दुःख के कारण नहीं निमित्त हैं–

उत्तर–हमारे मानने का प्रकार दूसरा है । हमारे सिद्धान्त में मित्र हितचिन्तन कर सकते हैं । हित करने का भरसक यत्न भी कर सकते हैं । इसी प्रकार शत्रु अहित-चिन्तन भी कर सकते हैं और अहित करने का भरसक प्रयत्न भी कर सकते हैं, परन्तु ईश्वर की सुव्यवस्था के कारण न तो शत्रु ही अनधिकृत अहित करने में सफल हो सकता है, न मित्र अनधिकृत हित करने में । **हम नित्य देखते हैं कि हमारे मित्र और स्वजन हमारा भला चाहते ही रहते हैं, फिर भी हम को दुःख मिलता है । और हमारे शत्रु नित्य हमारे दुःख के साधन जुटाते रहते हैं फिर भी हम दुःखों से बच जाते हैं ।**

हमारे मित्र या शत्रु हमारे सुख दुःख के कारण नहीं, निमित्त मात्र हैं । कारण और निमित्त में भेद है । निमित्तों का रूपान्तर हो सकता है । कारणों का नहीं-। एक साधारण लौकिक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी । यदि किसी विशेष चोरी की सज़ा ६ मास की कैद है तो कैद का कारण यह चोरी है । जेल कानपुर की हो या फैज़ाबाद की यह निमित्त मात्र हैं । फल का कारण तो नियत कर्म ही है। फल-प्राप्ति के रूप या निमित्त अनेक हैं । जो निमित्त और मूल कारण का भेद नहीं समझते वे उलझनों में पड़ जाते हैं ।

प्रश्न–लोग कहा करते हैं कि जैसे व्यक्ति के कर्मों का

व्यक्ति को सुख या दुःख मिलता है इसी प्रकार देश या जाति के कर्मों का देश और जातियों को सुख या दुःख मिलता है ।

उत्तर—यह बात बिना विचारे मोटे रूप से कह दी जाती है । यह भी कारण और निमित्त के अविवेक से होती है । जैसे मेरे शरीर में मेरा जीव है या आपके शरीर में आपका, उसी प्रकार देश के शरीर में देश का जीव या जाति के शरीर में जाति का जीव नहीं । न कोई ऐसा जीव है, जो सामूहिक जीवों का प्रतिनिधि कहा जा सके । अर्थात् जैसे व्यक्तियों के शरीरों में व्यक्तिगत जीव हैं उसी प्रकार देश में रहने वाले दस करोड़ या एक जाति में रहने वाले दो करोड़ जीवों का कोई एक विशेष जीव नहीं, जिसको परमात्मा उसके कर्मों के अनुसार फल दे सकता हो । हम ऊपर कह चुके हैं कि देश वा जाति की सीमा कल्पित है । जिसको आज आप अपना देश या जाति कहते हैं, वह कल बदल जाती है । ये सीमाएं प्राकृतिक या ईश्वरकृत नहीं । मनुष्य की कल्पनाकृत हैं । कर्म-फल व्यवस्था मनुष्य की कल्पित नहीं । यदि कल्पित होती तो मनुष्य कभी ऐसी व्यवस्था न बनाता । कर्म-फल का सिद्धान्त तो नैसर्गिक और अटल है । यह मनुष्य की मनमानी बात नहीं ।

दूसरे का कर्म और फल—

प्रश्न—क्या किसी दूसरे के किये का फल अन्य को नहीं मिल सकता ?

उत्तर—आपको क्या अच्छा जँचता है ?

प्रश्न—हम तो देखते हैं कि दूसरे के उपकारों का फल हम भोगते हैं ।

उत्तर—यदि किसी के किये का फल किसी अन्य को मिल

जाये तो क्या आप उसे न्याय कहेंगे? और क्या इससे आचार की व्यवस्था ठीक रहेगी ?

प्रश्न–हाँ ! यदि मैं धन कमा कर किसी अन्य को दे दूँ तो इसमें किसी का क्या बिगड़ता है? जिस लाभ का मैं स्वयम् उपभोग करता उसको मैंने दूसरे को दे दिया ।

उत्तर–तो क्या आप यह मानना पसन्द करेंगे कि एक आदमी अपने शुभ या अशुभ कर्मों के फल दूसरे को दे सकता है ।

प्रश्न–मेरा यही तात्पर्य है ।

उत्तर–और क्या मैं अपने अशुभ कर्मों का दुःख भी दूसरों को दे सकता हूँ ।

प्रश्न–इससे तो अनर्थ हो जायेगा शुभ कर्मों का सुख रूपी फल तो लोग दूसरों को देना कम पसन्द करेंगे । **परन्तु अशुभ कर्मों का दुःख रूपी फल तो सभी दूसरों को देना चाहेंगे । और उनको लेना भी कोई स्वीकार न करेगा ।**

उत्तर–बस आप सब समझ गये होंगे कि आपका सिद्धान्त कितना अव्यावहारिक, कितना हानिकारक और कितना तथ्य शून्य है । इसलिये यही मानना ठीक है कि कोई व्यक्ति कभी किसी अन्य के किये न तो शुभ कर्मों का फल प्राप्त कर सकता है न अशुभ कर्मों का दण्ड । ईश्वर उसी को दण्ड देता है जिसके खोटे कर्म हैं और उसी को सुख देता है जिसके अच्छे कर्म हैं । यदि ईश्वर यह आज्ञा दे कि कुछ लोग अपनी इच्छा के अनुसार अपने शुभ कर्मों द्वारा उपार्जित सुखों को दूसरों को दे सकते हैं तो राजे महाराजे अपनी समस्त प्रजा के शुभ कर्मों का एक भाग तो अवश्य ही अपने लिये सुरक्षित कर लें परन्तु ऐसा नहीं होता है ।

प्रश्न—आपकी युक्ति की तो हमारे पास कोई काट नहीं परन्तु आपकी बात जी में चुभती नहीं ।

उत्तर—आपत्ति क्या है ?

प्रश्न—हम रोज़ देखते हैं कि एक मनुष्य दूसरे को सुख भी देता है और दुःख भी । सुख देने वाले को श्रेष्ठ, भद्र तथा धर्मात्मा कहते हैं, दुःख देने वाले को दुष्ट और अधर्मी कहा जाता है । यदि एक आदमी दूसरे को सुख या दुःख न दे सकता तो संसार में दुःख होता ही नहीं । न आचार शास्त्र के नियत करने की आवश्यकता होती ।

उत्तर—आपने आधी बात सोची । एकदेशीय धारणाएं अधिकतर भ्रान्तिमूलक होती हैं ?

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—यह तो ठीक है कि स्वार्थवश किसी को दुःख देने का इरादा कर सकता हूँ या प्रेम अथवा मोहवश अपने किसी सुख को दूसरे के अर्पण करने का विचार कर सकता हूँ । परन्तु उस इरादे का फलीभूत होना तो मेरे अधिकार में नहीं है । माता नहीं चाहती कि उसके बच्चों की भूलों का बुरा फल उनको मिले। वह अपने शुभ कर्मों का सुख भी अर्पण करने को उद्यत है और बच्चों के अशुभ कर्मों का दुःख भी अपने ऊपर ले सकती है । परन्तु क्या माताएं इस शुभ विचार की पूर्ति में सर्वथा और सर्वदा सफल होती हैं ? क्या हम जिसका अहित चाहते हैं उसका उतना अहित कर पाते हैं ? यदि ऐसा होता है तो सृष्टि अनाचार और अराजकता से भर जाती । अशुभ चिन्तन और उस चिन्तन से उत्पन्न हुए (किसी सीमा के भीतर) कर्म तो सम्भव हैं, परन्तु उनसे दूसरों को हानि

पहुँच ही जाय यह अवश्यम्भावी नहीं है । और न हमारे हाथ में यह है कि सब के साथ परोपकार करने में सफल ही हो जाएं ।

प्रश्न—यदि साफल्य का विश्वास न हो तो न कोई परोपकार करने में दत्तचित्त हो न अनुपकार करने में । मुझे जब आशा हो जाती है कि अमुक को सुख या दुःख पहुँचा सकूँगा तब ही उस कर्म के करने में मेरी प्रवृत्ति होती है अन्यथा नहीं ।

उत्तर—सब की प्रवृत्तियाँ भिन्न होती हैं, या एकसी ?

प्रश्न—इस प्रश्न से आपका क्या प्रयोजन है ? प्रश्न स्पष्ट कीजिये ।

उत्तर—क्या सब अन्य मनुष्य मेरे प्रति एक सी ही प्रवृत्ति रखते हैं या भिन्न-भिन्न ? क्या सब लोग मेरा उपकार ही करना चाहते हैं या कुछ उपकार या अनुपकार ।

प्रश्न—भिन्न-भिन्न ! मेरे मित्र मेरे साथ उपकार करना चाहते हैं और शत्रु अनुपकार ।

उत्तर—तो फिर आपको उपकारों का फल मिलेगा या अनुपकारों का ?

प्रश्न—यदि अनुपकार करने वालों का प्राबल्य हुआ तो मैं दुःखी हूँगा और उपकार करने वालों का प्राबल्य हुआ तो सुखी हूँगा।

उत्तर—यह ईश्वर का न्यायपूर्ण राज तो नहीं हुआ । यह हुआ जिसकी लाठी उसकी भैंस । ईश्वर ऐसी अराजकता को कैसे सहन कर सकता है ?

प्रश्न—वह अनुपकार करने वालों को दण्ड देगा जैसे राजा की ओर से घातक को फाँसी होती है ।

उत्तर—इसको फिर सोचिये । आपने जो दृष्टान्त दिया उसके

पूरे अर्थों पर विचार नहीं किया ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—क्या घातक को फाँसी देने से मरने वाले के दुःख में कमी हो जाती है ?

प्रश्न—घातक को भावी अत्याचारों के करने और दूसरों को दुःख देने से रोका जा सकता है ।

उत्तर—यह तो दूसरों की बात कह रहे हैं । मैं पूछना चाहता हूँ कि यदि 'अ' ने 'ब' को मार डाला और 'अ' को फाँसी हो गई तो 'ब' को क्या मिला ? 'ब' को बिना कर्मों के मौत की सज़ा क्यों मिली ? जिस राज्य में बिना पाप किये हुए भी किसी को किसी साधन द्वारा अनुपार्जित दण्ड या दुःख मिल जाय उस राज्य को अच्छा तो नहीं कहेंगे ? राज्य का केवल यही तो कर्त्तव्य नहीं है कि पापी को दण्ड दे । उसका यह भी कर्त्तव्य है कि जो पापी नहीं है उसको सजा न मिले या किसी प्रकार भी न दी जा सके ।

प्रश्न—क्या हम देखते नहीं हैं कि अच्छे से अच्छे राज्यों में भी बिना अपराध के दुष्टों द्वारा लोगों को पीड़ा पहुँचती है और अपराधी दण्ड पाते हैं ।

उत्तर—हाँ देखते हैं, परन्तु यह तो मानवी सरकारों की अपनी अल्पज्ञता और निर्बलता है । मानवा शासक का ज्ञान भी सीमित है और बल भी सीमित । अतः उसे पता नहीं चलता कि 'अ' 'ब' को मारने का इरादा कर रहा है । यदि मालूम हो जाय तो 'अ' को रोकने का अवश्य प्रबन्ध किया जाय । ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है अतः उसके ज्ञान या नियंत्रण से कोई बच ही नहीं सकता, यह बात आंशिक साम्राज्यों में तो कल्पना में भी नहीं आ

सकती। अतः अन्ततोगत्वा यही मानना पड़ेगा कि न तो कोई अकारण किसी को दुःख दे सकता है न सुख।

प्रश्न—कारण तो होता है परन्तु दूसरों के इरादों और कर्मों के रूप में।

उत्तर—नहीं। यहाँ 'कारण' से हमारा तात्पर्य स्वकृत कर्मों से है। अर्थात् जब तक 'अ' के अच्छे कर्म या बुरे कर्म नहीं होते 'अ' को सुख या दुःख नहीं मिलता। ईश्वर का न्याय यही चाहता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी होगा अन्याय है। यदि ईश्वर शासक है और पूर्ण शक्तिमान्, पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण हितैषी शासक है तो उसके शासन में तीन बातें अवश्य होनी चाहिये—

(१) कोई अपने कुकर्म के बिना दुःखरूपी दण्ड न पा सके और अपने सुकर्म के बिना सुखरूपी पारितोषक भी न पा सके।

(२) यदि कोई किसी के साथ बुरा करना चाहे तो उसे दण्ड मिले, यदि कोई किसी के साथ भला करना चाहे तो उसे पारितोषिक मिले।

(३) व्यवस्था पूर्ण हो और सब के हित की अपेक्षा से की गई हो। हितों से अनपेक्षित न हो।

कमज़ोर और अल्पज्ञ शासक भी इन्हीं तीन बातों का ध्यान रखते हैं परन्तु अल्पशक्ति होने के कारण उनसे या तो भूल हो जाती है या वह सावधान होते हुए भी कर नहीं पाते। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और सर्वहितैषी ईश्वर में यह प्रश्न नहीं उठते कर्म-फल व्यवस्था ईश्वर की ओर से है। मनुष्य केवल एक छोटी सीमा तक उसका पालन करता है।

एक बात सोचिये। शासक का केवल इतना ही कर्त्तव्य

नहीं है कि पापी को दण्ड और पुण्यात्मा को श्रेय मिले । अच्छे शासक का यह भी लक्षण है कि पाप की प्रवृत्ति रखने वाले पापों को करने में समर्थ न हों और पुण्यशील लोगों को पुण्य करने में बाधा न मिले । जिस शासन में चोरियाँ अधिक हों और प्रत्येक चोर को चोरी के बदले कड़ा दण्ड भी अवश्य ही दिया जाता हो उस शासन को हम अच्छा नहीं कहेंगे । क्योंकि हत्याएं भी अधिक हुईं और प्राणदण्ड भी अधिक हुआ । इससे शासन की उपयोगिता तो सिद्ध नहीं हुई । इसी प्रकार यदि किसी को अपने कर्मों के कारण नहीं अपितु बिना कारण भी हत्या हो जाय तो वह कर्म के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा । अत: मानना पड़ेगा कि जीव को उसी के कर्मों का फल मिलता है । दूसरे जीवों के कर्मों का नहीं । उन जीवों के कर्म अन्य जीवों के स्वतन्त्रता पूर्वक शुभ या अशुभ कर्म करने में साधक या बाधक हो सकते हैं परन्तु केवल एक सीमा तक ।

मृत्यु–

प्रश्न–मृत्यु सुख है या दु:ख ?

उत्तर–मृत्यु न सुख है और न दु:ख । यह सुख का उपकरण हो सकता है और दु:ख का भी। किसी मनुष्य या प्राणी को मरते देख कर यह नहीं समझना चाहिये कि उसमें उसका अनिष्ट है । मृत्यु है क्या ? एक शरीर से जीव का निकलना और दूसरे शरीर में प्रवेश करना । हम जब एक मकान को छोड़कर दूसरे में जाते हैं या कोट उतार कर दूसरा पहनते हैं तो उससे सुख भी हो सकता है और दु:ख भी । जब एक पदाधिकारी एक पद से दूसरे पर जाता है तो यदि वेतन-वृद्धि या पद-वृद्धि होती है तो उसे प्रसन्नता होती है । यदि वेतन में कमी या पद छोटा हो तो दु:ख होता है । इसी

प्रकार मृत्यु के पश्चात् हम को कैसा शरीर या कैसी परिस्थिति मिले, उसी को देख कर तो हम यह कह सकते हैं कि मृत्यु अच्छी हुई या बुरी ।

प्रश्न—फिर मृत्यु को लोग भयानक क्यों समझते हैं और मित्रों की मृत्यु पर इतना रोना पीटना क्यों होता है ?

उत्तर—प्रथम तो साधारण प्राणी को वर्तमान परिस्थिति से मोह हो जाता है । अतः वह इस को छोड़ना नहीं चाहता । दूसरे भविष्य की बात जानता नहीं । उसे सन्देह होता है कि न जाने आगे क्या हो । उसमें ईश्वर-विश्वास की कमी होती है । जो जीव यह समझ ले कि ईश्वर जो करता है भले के लिये करता है तो जीव को मरते समय भी सन्तोष हो ।

दूसरे लोग मृत्यु पर इसलिये रोते हैं कि उनका अपना स्वार्थ होता है । पत्नी पति की मृत्यु पर या लड़के बाप की मृत्यु पर इसलिये रोते हैं कि उनके जीवन का साधन चला गया । इस रोने पीटने से यह सिद्ध नहीं होता कि मृत्यु से मरने वाले का अहित ही हुआ है । जो लोग जीव की चेतन सत्ता पर विश्वास नहीं करते और जीवन को केवल जड़ ही समझते हैं उनको तो यह कहने का अधिकार ही नहीं कि मृत्यु से मरने वाले की हानि होती है । दीपक की जो लौ बुझ गई उसका हित क्या और अहित क्या? परन्तु जो जीव को चेतन मानते हैं उनको विचारना चाहिये कि मृत्यु न केवल दुःख का कारण है न केवल सुख का । न केवल उन्नति का है न केवल अवनति का । जीव मर कर मुक्त भी हो सकता है और कीट पतंग का जीवन भी प्राप्त कर सकता है ।

प्रश्न—किसी को मार डालना पुण्य है या पाप ?

उत्तर—केवल मार डालने मात्र से पुण्य या पाप की व्यवस्था नहीं की जा सकती । फाँसी देने वाला मनुष्य फाँसी देते समय न पुण्य करता है और न पाप । हाँ, एक प्रकार से वह अपना कर्त्तव्य पालन करता है । जिसकी आज्ञा से फाँसी दी जाती है उसके पुण्य-पाप का मापदण्ड उसकी अपनी कर्त्तव्यता है । बिना कर्त्तव्यता के किसी को मारना पाप है ।

प्रश्न—क्यों ? किसी को क्या पता कि मारने वाले की मृत्यु सुख और उन्नति का कारण हो ।

उत्तर—कोई किसी को उन्नति या सुख पहुँचाने के लिये मारने का प्रयास नहीं करता । वह तो स्वार्थवश उसकी स्वतन्त्रता को नष्ट करना चाहता है । इसलिये उसके प्राणों के पीछे पड़ा है । किसी की स्वतन्त्रता का बाधक होना पाप है, क्योंकि यह ईश्वर की सृष्टि के उद्देश्य के विरुद्ध है ।

प्रश्न—ईश्वर प्राणी को क्यों मारता है ? उसको पाप क्यों नहीं लगता ?

माता भी कपड़े उतारती है और डाकू भी परन्तु—

उत्तर—ईश्वर अपने स्वार्थ के लिये किसी को नहीं मारता। **ईश्वर मारता ही नहीं जिलाता भी है ।** यदि वह मेरे इस जीवन का अन्त करने के लिये मृत्यु देता है तो दूसरे जीवन के आरम्भ के लिये जन्म भी देता है । जो डाकू मेरे कपड़े उतार लेता है वह पापी है, क्योंकि उसने अपने स्वार्थ के लिये मुझे पीड़ा दी है । परन्तु जो मेरी माता मेरे पुराने कपड़े उतार कर नये पहनाती है वह दयालु है, डाकू नहीं ।

प्रश्न—तो क्या सब प्राणियों का मारना पाप है ?

उत्तर—सब का, जो स्वार्थवश मारे जाते हैं ।

प्रश्न—मछली, बकरी, मुर्गी आदि का भी जो खाने के लिये मारे जाते हैं ?

उत्तर—अवश्य । क्योंकि यह स्वार्थ के लिये मारे जाते हैं।

प्रश्न—हम तो इनको मार कर ईश्वर का अनुकरण करते हैं । ईश्वर भी मारता है और हम भी ।

उत्तर—कदापि नहीं । ईश्वर जिलाने के लिये मारता है । आप अपने स्वार्थ के लिये मारते हैं ।

प्रश्न—जब मृत्यु न दुःख का कारण है और न सुख का तो मारना क्यों पाप है ?

उत्तर—मृत्यु दुःख का निमित्त भी हो सकता है और सुख का भी परन्तु मारने वाले की इच्छा तो स्वार्थ सिद्धि और शत्रुता को ही प्रकट करती है । अतः पाप है ।

प्रश्न—गीता में लिखा है—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

अर्थ—ये शरीर अनित्य हैं । जीव नित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन युद्ध कर ।

जो आत्मा को मारने वाला मानते हैं या मरने वाला वे दोनों अज्ञानी हैं । जीव न मारता है न मरता है ।

यदि ऐसा है तो किसी प्राणी को मारने में पाप नहीं । हम मछली के शरीर को ही तो मारते हैं। मछली के जीव को तो नहीं।

उत्तर–ऐसा मानने से तो महा अनर्थ हो जायेगा। गीता का उपदेश केवल रणक्षेत्र के लिये था, जहाँ अर्जुन युधिष्ठर की आज्ञा से लड़ने गया था। यदि ऐसा उपदेश प्रत्येक चोर डाकू या घातक को दिया जाय तो घोर आपत्ति आ जाय। जो कोई मेरा धन चुरा लेता है वह नित्य आत्मा को मार तो नहीं सकता परन्तु स्वार्थवश मुझे पीड़ा पहुँचाता है, अतः दण्डनीय है। इसी प्रकार मछली को मारने वाला स्वार्थवश मछली के जीव को पीड़ा देना चाहता है अतः पापी है। क्योंकि उसकी इच्छा है कि एक प्राणी की वस्तु को हर के अपने पेट की पूर्ति की जाय। किसी वाक्य का अर्थ प्रकरण को देख कर निकालना चाहिये दुर्भाग्य का विषय है कि रणक्षेत्र में दिये जानेवाले उपदेश को हर परिस्थिति में लाकर कुछ का कुछ परिणाम निकाला जाता है।

यह मानना कि आत्मा अमर है परन्तु यह भी तो ठीक ही है कि यह अमर आत्मा सुख और दुःख का भागी होता है। अतः जो उसको दुःख देना चाहते हैं या उसकी स्वतन्त्रता को छीनना चाहते हैं, वे पाप करते हैं। कल्पना कीजिये कि मोहन नाम का विद्यार्थी आज दिन के १० बजे एम० ए० की परीक्षा में बैठने जा रहा है। यदि कोई कुन्दन नामी पुरुष उसको सड़क पर पकड़ करके आधा घण्टा रोके रखे तो वह पाप का भागी होगा या नहीं ? वह यह नहीं कह सकता कि मोहन तो अमर ही है। मैंने उसके अमरत्व में बाधा नहीं डाली, और न वह यह कह सकता है कि कौन जानता है कि मोहन परीक्षा देता और विफल हो जाता। क्योंकि कुन्दन का विचार दूषित है। अतः अपराध है।

मृत्यु का समय–

प्रश्न–मृत्यु का समय मरने वाले के कर्मों पर निर्भर है या अन्य किन्हीं कारणों पर भी ?

उत्तर–केवल मरने वाले के कर्मों पर ।

प्रश्न–पिछले कर्मों पर या वर्तमान या अगले कर्मों पर ?

उत्तर–पिछले कर्मों पर ।

प्रश्न–अच्छे कर्मों पर या बुरे कर्मों पर ।

उत्तर–अच्छे और बुरे दोनों पर । स्थिति का परिवर्तन दुःख का हेतु भी है और सुख का भी । अच्छे कर्मों का परिणाम सुख और बुरे का दुःख है ।

प्रश्न–यह कैसे मालूम हो कि अमुक मृत्यु का परिणाम सुख होगा या दुःख ?

उत्तर–मनुष्य इस बात को नहीं जान सकता । मृत्यु के पश्चात् की बात परोक्ष है । इसको तो ईश्वर ही जानता है । उसी की व्यवस्था से संसार चलता है ।

अकाल मृत्यु–

प्रश्न–मृत्यु अकाल होती है या सकाल ?

उत्तर–अकाल और सकाल का तात्पर्य क्या ? सब क्रियाएं या घटनाएं काल की अपेक्षा रखती हैं ।

प्रश्न–किसी युवक की मृत्यु को देखकर लोग कहा करते हैं कि अमुक मनुष्य की अकाल मृत्यु (untimely death) हुई ।

उत्तर–हर एक मनुष्य "काल" शब्द का प्रयोग अपने हितों की अपेक्षा से करता है । एक पत्नी के लिये पति का वियोग 'अकाल'

(untimely) है चाहे उसकी मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था में ही क्यों न हुई हो। शत्रु की मृत्यु कभी अकाल नहीं कही जा सकती। वह जितनी जल्दी मरे उतना ही उचित समझा जाता है। एक साठ वर्ष का युवराज अपने ८५ वर्ष बूढ़े राजा बाप के जीवन को 'अकाल' समझता है मृत्यु को नहीं। बच्चे जो माँ बाप के सामने मरते हैं उनकी मृत्यु अकाल ही समझी जाती है।

प्रश्न—नहीं नहीं। हमारे प्रश्न का आशय कुछ और ही है।

उत्तर—आशय को स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न—क्या प्रत्येक प्राणी की मृत्यु का समय और निमित्त परमात्मा की ओर से पहले से इस प्रकार निश्चित होता है कि उसमें किसी अन्य प्राणी के लिये परिवर्तन करना असम्भव है? अर्थात् कल्पना कीजिये कि यज्ञदत्त ने क्रोध में आकर देवदत्त को अपनी तलवार से किसी जंगली वृक्ष के नीचे मार डाला। क्या ईश्वर का यह निश्चय था कि देवदत्त उसी दिन उसी मुहूर्त्त में उसी तलवार से उसी वृक्ष के नीचे उसी परिस्थिति में यज्ञदत्त को मारेगा और यज्ञदत्त स्वयं या अन्य कोई प्राणी उस मृत्यु को हटा नहीं सकता?

मृत्यु का समय व स्थान निमित्त है कारण नहीं—

उत्तर—आपने प्रश्न उठाया 'काल' शब्द से। अब उसमें कर्त्ता उपकरण, स्थान, परिस्थिति सबको शामिल कर लिया। हम ऊपर लिख चुके हैं कि निमित्त को कारण मानना अयुक्त है। आज एक मनुष्य हवाई जहाज़ के फटने से मर जाता है। सौ वर्ष पूर्व हवाई जहाज़ न थे। अतः ईश्वर 'हवाई जहाज़' को मृत्यु का अवश्यम्भावी कारण या साधन कैसे बनाता। मृत्यु तो तब भी होती थीं परन्तु हवाई जहाज़ द्वारा नहीं। इसी प्रकार यदि यज्ञदत्त किसी

जहाज़ में बैठा समुद्र यात्रा करता होता तो क्या केवल मरने के लिये उड़कर वृक्ष के तले आना आवश्यक होता, कदापि नहीं। इस प्रकार केवल मृत्यु ही तो एक घटना नहीं है। घटनाएं बहुत सी हैं। उन सब के लिये क्या आप यह प्रश्न करेंगे कि अमुक घटना अकाल हुई या सकाल ? कल्पना कीजिये कि मुझे आपने आज दावत खिलाई। क्या यह दावत अकाल थी या सकाल ? क्या परमात्मा ने पहले से यह निश्चित कर दिया था कि आप अपने कमरे में मिर्ज़ापुर के कालीन पर बिठाल कर अवश्य ही सण्डीले के लड्डुओं से दावत देंगे ? और इसमें से किसी अंश का न करना किसी व्यक्ति के लिये सम्भव न होगा ?

प्रश्न—आपकी इस लम्बी चौड़ी व्याख्या का निष्कर्ष क्या निकला ? आपने तो एक दावत की बात छेड़ कर हमारे मौलिक प्रश्न को खटाई में डाल दिया।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। हमने एक समानान्तर घटना इसलिये दी है कि आपको ठीक ठीक सोचने में सहायता मिले। प्रत्येक फल कर्म के अनुसार होता है। निमित्त के नहीं। एक घटना के लिये अनेक निमित्त हो सकते हैं। उनका सम्बन्ध अन्य परिस्थितियों से होता है। जैसे एक मनुष्य ने एक मास तक सरकारी नौकरी की। नौकरी कर्म है। वेतन फल है। वेतन नोटों के रूप में भी दिया जा सकता है और चाँदी, सोने तथा अन्य धातु के सिक्के के रूप में भी। यदि आप विदेश में चले जाएं तो उस देश के सिक्के के रूप में भी। हाँ इतना आवश्यक है कि वेतन आपकी ही नौकरी का हो अन्य की नौकरी का नहीं और आपको ही मिले अन्य को नहीं। उपकरण भिन्न होते हुए भी आप के फल के विषय में समान

मूल्य ही रखेंगे ।

जैसे सकाल मृत्यु और अकाल मृत्यु का प्रश्न उठता है इसी प्रकार सदेश मृत्यु, अदेश मृत्यु, सहेतु मृत्यु अहेतु मृत्यु के भी प्रश्न उठ सकते हैं । प्रश्न उठाने वाले कभी कभी मनमाने प्रश्न उठाते हैं, हमारी व्याख्या इन सब पर लागू होती है । काल मृत्यु और अकाल मृत्यु का प्रश्न शास्त्रों में कहीं इस रूप में उठाया नहीं गया ।

प्रश्न—स्वतन्त्रता किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसके आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तः-करणादि हों ।

अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र हैं परन्तु जब वह पाप कर चुकता है तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल को भोगता है । इसलिये कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःख स्वरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है ।

(सत्यार्थप्रकाश समुल्लास, पैरा ३८)

मरकर क्या स्वर्ग मिलता है ?

प्रश्न—सब लोग अपने मृत पूर्वजों को स्वर्गीय (स्वर्ग को जाने वाला) मरहूम (रहम किया गया) मग़फ़ूर (बरकत किया हुआ) कहा करते हैं । क्या ये सब स्वर्ग को जाते हैं ?

उत्तर—मित्रों और सम्बन्धियों की ये भावनाएं उनकी हितैषिता की सूचक हैं, न कि उनके भविष्य-दर्शकत्व की । यह कौन कह सकता है कि मेरा बाप मरकर किसी निकृष्ट योनि को प्राप्त नहीं हुआ । हमारे शब्द हमारी शुभ भावनाओं को प्रकट करते हैं । इससे अधिक कुछ नहीं । इसको सामाजिक शिष्टता कह सकते हैं । दार्शनिक तथ्य नहीं ।

प्रश्न—क्या मेरी मृत्यु मेरे पिछले कर्मों के आधार पर न होकर मेरे शत्रु की कुभावना या निर्दयता के कारण भी हो सकती है ?

उत्तर—नहीं । मृत्यु के निमित्त तो बहुत से हो सकते हैं, परन्तु कारण नहीं । यदि एक के कर्म दूसरे की मृत्यु के कारण हो सकें तो ईश्वर की न्याय-व्यवस्था में बाधा पड़ जाय । पूर्ण, पूर्णज्ञ और पूर्ण-शक्ति ईश्वर की व्यवस्था में किसी के कर्म किसी अन्य को फल नहीं दे सकते । ऐसा मानना अन्याय होगा ।

आयु वर्षों पर या श्वासों पर—

प्रश्न—कुछ लोग आयु की इयत्ता वर्षों पर और कुछ श्वासों पर मानते हैं । इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—ये दोनों बातें हम को काल्पनिक प्रतीत होती हैं ? न तो योग दर्शन में ही सूत्रकार ने इसको स्पष्ट किया है; न अन्य शास्त्रों में इसका कोई उल्लेख है । यह प्रतिपत्ति कहाँ से प्रारम्भ हुई यह कहना कठिन है । सम्भव है अकाल मृत्यु और निश्चित काल मृत्यु का प्रश्न उठाने पर भिन्न-भिन्न मत वालों ने ऐसी कल्पना की हो । जिसको वर्षों की इयत्ता कहते हैं वह तो सर्वथा बाह्य वस्तु है । वर्षों की माप सूर्य, पृथिवी, चन्द्र आदि के भ्रमण पर आश्रित है । मुसलमानों का साल हिन्दुओं के साल से छोटा होता है । वर्ष की इयत्ता मानुषी है ईश्वरीय नहीं । आप जिस को वर्ष कहते हैं, वह किसी अर्थ में केवल एक दिन ही कहा जा सकता है । यदि अपने जीवन को एक इकाई माना जावे तो कीट-पतंगों का समस्त जीवन हमारे एक दिन के बराबर होगा और यदि उनके जीवन के माप के लिये कोई और माप-दण्ड रखा जाय तो उनके जीवन भी

वर्षों और युगों में विभक्त हो सकेंगे।

श्वासों पर (यदि श्वास से अर्थ प्राण और अपान मात्र की क्रिया का है) जीवन की माप का आश्रय तो और भी अर्थ-शून्य प्रतीत होता है। श्वास जीवन की एक क्रिया-मात्र है **और वह भी एक क्रिया। यह क्रिया भी केवल भौतिक क्रिया।** जैसे सायकिल के पहिये की हवा। यह ठीक है कि सायकिल के पहियों में जब तक हवा है तभी तक सायकिल चलेगी परन्तु हवा सायकिल के जीवन का न उद्देश्य है न मापदण्ड। कहीं कहीं कहा गया है कि प्राण ही जीवन है। यह उसी प्रकार का कथन है जैसे कोई कहे कि हवा ही सायकिल है। यह उपचार की भाषा है। कुछ लोग समझते हैं कि यदि हम श्वास रोक लें तो जीवन बढ़ा लेंगे। यदि ऐसा ही तात्पर्य होता तो जाति और आयु के साथ 'भोग' क्यों लगाते? वहाँ तो कहा है कि कर्म का विपाक तीनों चीज़ों से सम्मिश्रित है—जाति, आयु और भोग। यदि कोई कहे कि श्वास को रोक कर हम मृत्यु को भगा देंगे जैसे यदि आप सायकिल को पकड़ कर खड़े हो जाएं तो हवा न निकलेगी तो इससे उद्देश्य तो पूरा नहीं हुआ। यदि सायकिल के रोकने से पहिये की हवा सुरक्षित भी रही तो इससे क्या होता है ? दूसरे यह भी प्रश्न है कि श्वास को रोक कर हम आयु को बढ़ा भी सकते हैं या नहीं। यह एक अंश में ठीक हो सकता है सर्वांश में नहीं। श्वास-प्रश्वास की स्वस्थता तो एक चीज़ है और रोक कर खड़ा हो जाना दूसरी चीज़। श्वास अधिक चले वह भी रोग है। श्वास रुके वह भी रोग। इसलिये श्वास के नियन्त्रण (नियमित करने) से स्वास्थ्य अवश्य अच्छा होगा परन्तु जीवन की इयत्ता की निश्चिति केवल स्वास्थ्य से ही न होगी। और भी इसके

निर्धारण के कारण हो सकते हैं। प्राणों को आयु का मापदण्ड मानने वालों की कल्पना का आधार शायद तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली के तृतीयानुवाक के ये वाक्य हैं। **'प्राणो हि भूतानामायुः।' यह तो ठीक ही है कि जब तक सांस चलता है तब तक लोग मनुष्य को जीवित समझते हैं परन्तु इससे यह तो तात्पर्य नहीं कि श्वास और जीवन में कारण कार्य का सम्बन्ध है।** उपनिषद् में यह नहीं कहा कि प्राणों की संख्या पर जीवन निर्भर है। यह संख्या की बात तो किसी ने मनमानी कल्पित कर ली है। यदि जीवन पिछले जन्म के कर्मों का भोग मात्र ही हो तो कहना चाहिये कि जाति, आयु और भोग को सर्वथा निश्चित रूप से पाकर हमने अपने पके हुए कर्मों का फल प्राप्त कर लिया और हम इन तीनों बातों से जकड़ गये। फिर कर्म के स्वातन्त्र्य का तो अवसर चला गया। और कर्म स्वातन्त्र्य का अभाव पिछले कर्मों की फल-प्राप्ति का उचित साधन नहीं कहा जा सकता। अर्थात् कर्म-फल की प्राप्ति का यह अर्थ नहीं कि भविष्य में कर्म करने की स्वतन्त्रता न रहे। समस्त कर्म-फलवाद का सिद्धान्त अन्ततोगत्वा हमारी मोक्ष प्राप्ति को प्रभावित करने के लिये है। कर्मों का फल बदला लेने या किसी कल्पित कानून की सन्तुष्टि के लिये नहीं है। हम ऊपर कह चुके हैं कि दुःख दवा है और सुख गिज़ा (भोजन) है। दवा और गिज़ा दोनों का एक अन्तिम ध्येय है, वह है स्वास्थ्य। भोजन सीधा स्वास्थ्यकर है और औषधि रोग दूर करके स्वास्थ्य देती है परन्तु अन्तिम उद्देश्य है दोनों का स्वास्थ्य। इसी प्रकार पिछले कर्मों के विपाक स्वरूप जो हम को जाति आयु और भोग प्राप्त होते हैं और यह तीनों ह्लाद (सुख) और ताप (दुःख) से ओत प्रोत होते

हैं तो इस सुख और दुःख के अतिरिक्त इस जीवन का एक और उद्देश्य भी होना चाहिये वह है कर्त्तव्य-पालन और सम्यक्-ज्ञान-उपलब्धि का स्वतन्त्रता-पूर्ण अवसर । जिस जीवन में यह चौथी बात नहीं उसको कर्मों का फल कहना ठीक न होगा। सांख्य ने कहा कि **"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः ।"** अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों की निवृत्ति ही पुरुष के जीवन का वास्तविक अर्थ (पुरुषार्थ) है और योग ने इन सुख आदि को भी योगी की दृष्टि में दुःख ही बताया । यह भी यही प्रकट करता है कि योगी को इस जन्म में न केवल सुख और दुःख ही भोगना है अपितु इनके स्वरूप को समझ कर अनागत दुःख (इस क्षण के पश्चात् आने वाले दुःखों) की निवृत्ति का प्रयास भी करना है । यह प्रयास उसी समय हो सकेगा, जब हम पिछले कर्म से सर्वथा जकड़े न हों और हम को उनके घटाने बढ़ाने का भी अवसर हो ।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो फल की निश्चितता में बाधा पड़ेगी। इससे ईश्वर का नियम टूटेगा । हम बबूल का बीज बोकर भी आम ले सकेंगे । यह तो कर्म के सिद्धान्त का पोषण नहीं अपितु उपहास हुआ ?

उत्तर—फल की इच्छा और फल का स्वरूप न समझने के कारण ऐसी आपत्ति उठाई जाती है। बबूल का बीज बोकर आम तो प्राप्त नहीं किये जा सकते परन्तु बबूल के वृक्ष के संरक्षण और पालन पोषण में भिन्नता लाने से बबूल के काँटों से होने वाले हानि लाभ में तारतम्य लाया जा सकता है । यह ईश्वर के नियमों का उलङ्घन नहीं, अपितु उन्हीं के अनुकूल चलने का परिणाम-मात्र

होगा । जो समझते हैं कि हम सर्वथा परतन्त्र हैं, वे भी भूल करते हैं । हमारे जीवन की तीन चीजें हैं:-प्रवृत्ति, संगति और प्रयति ।

दुःख के काठिन्य में कमी सम्भव-

प्रवृत्तिः सङ्गतिश्चैव तृतीया प्रयतिस्तथा ।
आद्ये द्वे तु पराधीने ह्यन्त्या स्वातन्त्र्यमीहते ॥

प्रवृत्ति (Tendency) एक प्रकार का स्वभाव है, जो पिछले कर्मों के अनुसार हम को मिलता है, भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने वाले जीवों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ होती हैं जो उनके पिछले जन्म जन्मान्तरों के कर्मों से बनी होती हैं । दूसरी चीज है संगति (Society), जब हम इस संसार में जन्म लेते हैं तो एक विशेष प्रकार के वातावरण (Environment) में अपने को पाते हैं, यह वातावरण भी आवरण है, हम इसके लिये पराधीन हैं । जो कर्म हम कर चुके उसके ही अनुसार हम को यह संगति मिली । चोरी करने से जब चोर जेल में आता है तो ये दोनों चीज़ें साथ लाता है, चोरी की प्रवृत्ति नम्बर एक । जेल की संगति-नम्बर दो । चोर को स्वतन्त्र घूमने के लिये सड़क पर छोड़ा नहीं जा सकता और न उसकी प्रवृत्ति बदली जा सकती है । यह ठीक है कि इस विशेष संगति का उद्देश्य तो प्रवृत्ति-परिवर्तन ही है परन्तु यह चोर के अधिकार में नहीं कि संगति को बदल दे । अब तीसरी रही प्रयति (will) इसमें चोर भी सर्वथा स्वतन्त्र है । उसको कर्त्तुम् (करने) अकर्त्तुम् (न करने) और अन्यथा कर्त्तुं (उल्टा करने) की पूरी स्वतन्त्रता है। वह जेल में रहकर उसके वातावरण का अपने ऊपर प्रभाव कम कर सकता है। उसी जेल में कड़े से कड़े नियमों का सत्यता से पालन करते हुए लोग अपने अपराधों का प्रायश्चित्त कर साधु बन सकते हैं और उसी जेल के

उसी वातावरण में खोटी प्रवृत्ति के लोग बिना संकोच गहरे से गहरे पाप करने की प्रवृत्ति को बढ़ा सकते हैं। इस पर प्रयति को प्रवृत्ति और संगति दोनों से घोर-युद्ध करना पड़ता है। और प्रवृत्ति और संगति दोनों में परिवर्तन करना अति कठिन है परन्तु असम्भव नहीं है, और जब हम प्रवृत्ति और संगति को किसी अंश में भी अपने वश में कर सकते हैं तो मानो हमने अपने भोगों पर भी कुछ न कुछ आधिपत्य पा लिया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारी **"ज्ञानपूर्वक प्रयति" हमारे इस जन्म में होने वाले दुःख और सुख में भी परिवर्तन कर सकती है। यद्यपि कठिनता के साथ।** इससे ईश्वर के कर्म-फल के सिद्धान्त के अटल होने का खण्डन नहीं होता। क्योंकि कर्मों का फल अगले कर्मों के स्वातन्त्र्य को नहीं छीनता; अपितु आगे के शुभ कर्म पिछले अनिष्ट भोग के काठिन्य को कोमल बना देते हैं। यह परिवर्तन थोड़ा नहीं है। जिस चोर के हाथ में हथकड़ी पड़ी हुई है उसको यदि ज्ञान हो जाय और वह यह समझने लगे कि मेरे पापों का प्रायश्चित्त हो रहा है तो वह चाहे अपनी हथकड़ियों को तोड़ न सके फिर भी वे हथकड़ियां आन्तरिक दुःख को घटा देती हैं। और उसके विपरीत मनोवृत्ति वाला कैदी जेलर से लड़कर अपने क्लेश को बढ़ा लेता है। यह दूसरी बात है कि दण्ड की अवधि कम या अधिक न हो सके।

फल में परिवर्तन

प्रश्न—मैं एक सीधा प्रश्न करना चाहता हूँ। मुझे जाति, आयु और भोग पिछले कर्मों के फल स्वरूप तदनुसार ही मिले हैं। क्या मैं इस जन्म में कोई ऐसा कार्य कर सकता हूँ, जिससे इन तीनों में परिवर्तन हो सके ?

उत्तर–प्रश्न इतना सीधा तो नहीं है । न उत्तर ही इतना सुबोद्‌धव्य है । फिर भी सोचना चाहिये। पहली बात लीजिये । कर्मों के तीन भाग किये जाते हैं–सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध । एक वे कर्म जो अभी फल नहीं दे रहे हैं किन्तु कालान्तर में फल देने के लिये सुरक्षित रखे हुए हैं । दूसरे वे कर्म जो किये जा रहे हैं । तीसरे वह कर्म जो फल देने के लिये पक गये हैं और उनका फल मिलना आरम्भ हो गया है । इस जन्म में हम उन कर्मों का फल पा रहे हैं जो प्रारब्ध हैं अर्थात् पक कर तैयार हैं । कुछ ऐसे भी पिछले एक जन्म या कई जन्मों में किये हुए कर्म होंगे जो अभी पके नहीं और जिनका फल आजकल हम को नहीं मिल रहा । कचहरियों के अभियोग (मुकदमों) का दृष्टान्त ले लें तो यह कह सकते हैं कि अदालत में अभी बहुत से ऐसे मुकदमे हैं जो भविष्य के लिये डाल रखे हैं । जब पक जाएंगे तब उनको लिया जायेगा। कुछ का फल सुना दिया गया और जैसा जिस प्रकार दण्ड उचित समझा गया दिया जा रहा है ।

यदि वृक्ष के फल का दृष्टान्त दिया जाय तो यों कहेंगे कि एक वृक्ष का फल प्रत्यक्ष रूप से हमारे समक्ष है । हम फल पा रहे हैं परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनके पकने में बहुत समय लगेगा।

इससे एक बात स्पष्ट है । भिन्न-भिन्न कर्म पकने के लिये भिन्न-भिन्न समय लेते हैं । कोई दो मास में पकता है जैसे पालक का शाक, कोई तीन चार वर्ष लेता है जैसे अमरूद, नारंगी और कुछ बहुत अधिक समय लेते हैं जैसे कटहल । यदि ऐसे कर्म हैं जो दो तीन जन्मों में पक सकें तो ऐसा कर्म क्यों नहीं जिसके पकने में तीन चार मास ही लगें और उसका फल उसी जन्म में क्यों न

होना चाहिये। आपकी धारणा के अनुसार तीन अवस्थाए ध्यान में आ सकती हैं–

(१) एक जन्म के कर्मों का फल अवश्य ही उसके अगले जन्म में मिल जाय। जैसे जनवरी की नौकरी का पूरा वेतन फ़रवरी में मिल जाता है।

(२) कुछ कर्मों का फल अगले जन्म में मिले और कुछ ऐसे भी कर्म हों जिनका फल तीन चार जन्मों के पश्चात् मिले।

(३) कुछ ऐसे भी कर्म हों जिनका फल उसी जन्म में मिल जाये।

आप पहली दो बातों को तो मानेंगे ही फिर तीसरी को क्यों न मानें? इसके मानने में क्या आपत्ति है?

प्रश्न–इससे योगदर्शन के सूत्र का विरोध होगा जिसमें लिखा है कि जाति, आयु और भोग कर्म के विपाक पर मिलते हैं। यहाँ 'जाति' शब्द 'जन्म' का द्योतक है। अतः सिद्ध है कि हम अपने इस जन्म के किये हुए किसी कर्म का फल इस जन्म में नहीं पा सकते।

इस जन्म में भी कर्म-फल प्राप्त होता है–

उत्तर–योगसूत्र में यह तो नहीं कहा गया है कि इस जन्म के किये कर्म का फल इस जन्म में मिल ही नहीं सकता। वहाँ 'जन्म' को नहीं अपितु कर्म के विपाक (पक जाने) को कारण बताया गया है। सब कर्म एक ही काल में नहीं पकते। भिन्न-भिन्न कर्मों के विपाक के लिये भिन्न-भिन्न काल–परिणाम की आवश्यकता होती है। हाँ यह अवश्य है कि जो जन्म हम को इस समय मिला है उसके कारण वे "कुछ कर्म" होंगे जो इस जन्म से पूर्व किये

गये । 'कुछ' शब्द का प्रयोग आवश्यक है क्योंकि **यह नहीं कहा जा सकता है कि इस जन्म के होते ही पिछले सब कर्मों का भुगतान हो चुका और अब कोई कर्म भोग के लिये शेष नहीं है ।**

प्रश्न—सूत्र में केवल एक 'फल' न कहकर जाति, आयु और भोग तीन शब्दों का प्रयोग क्यों किया ?

उत्तर—यह अच्छा प्रश्न है । इसके विषय में कुछ ऊपर भी कहा जा चुका है । हम को केवल फल ही नहीं भोगना अपितु कर्म भी करना है । पिछले कर्मों का फल भी इसलिये नहीं मिलता कि हम उस को भोग कर बैठ रहें और हमारे जीवन (अस्तित्त्व) का अन्त हो जाय । सान्त कर्मों का फल अनन्त तो नहीं होगा । फल भी इसीलिये दिया गया है कि वह उच्चतर कर्मों के करने का क्षेत्र तैयार कर सके। अतः जाति या जन्म का अभिप्राय है उन परिस्थितियों से जिनमें हम को आगे काम करना है । लोग जन्म और जाति का संकुचित अर्थ लेते रहे हैं अर्थात् कुत्ता, बिल्ली, साँप या मनुष्य की योनि मात्र । वस्तुतः ये योनियाँ भी परिस्थिति का एक अंग मात्र हैं । परिस्थिति में अन्य कई चीज़ें शामिल हैं जो सब 'जाति' के अन्तर्गत गिनी जानी चाहिये । 'आयु' का अर्थ काल की 'इयत्ता' है । और भोग का अर्थ है उन परिस्थितियों का हमारे मन पर प्रभाव जिसका सहयोग या असहयोग (आनुकूल्य या प्रातिकूल्य) करके हम को अगला कर्म करना है । भीरु लोग दुःख या आपत्ति की अनुभूति से दब कर बैठ जाते हैं और कर्त्तव्यच्युत हो जाते हैं । वीर पुरुष उनका सामना करके आगे चल पड़ते हैं ।

प्रश्न—जब जाति आयु और भोग नियत हो गये तो हम को

उनके बदलने का प्रयास करना व्यर्थ है । जो होना है सो होकर रहेगा । उसमें रत्ती भर भेद नहीं हो सकता । यदि हमारे भाग्य में है कि हमारी एक स्त्री मर जाय और दूसरी से विवाह हो तो होकर रहेगा । यदि स्त्री के भाग्य में वैधव्य बदा है तो वह विधवा होगी। यदि हमारी मृत्यु ४० वर्ष की आयु में होनी है तो होगी चाहे हम कुछ भी क्यों न करें । तुलसीदास जी स्पष्ट कहते हैं–

हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ ।

उत्तर–आप अपने प्रश्न को सीधे मार्ग पर न चलाकर इधर ले गये । हमने पिछले प्रश्नोत्तरों में बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया था और आपने स्वीकार भी कर लिया था । अब फिर आपने उस निश्चित के विरुद्ध वही पुरानी अनिश्चित बातें पकड़ लीं ।

तुलसीदास तो केवल यह कहते हैं कि हानि, लाभ, जीवन मरण, यश अपयश को देने वाला ईश्वर है । वह यह नहीं कहते कि ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से जो चाहे दे देता है । ईश्वर फल का दाता है परन्तु कर्म के अनुसार ही हानि लाभ भी आप के कर्मों से और यश, अपशय भी आप के कर्मों से यह तीनों द्वन्द्व अर्थात् हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश केवल फल के रूप मात्र हैं ।

नये कर्म भोग में भेद कर सकते हैं–

दूसरी मुख्य और नोट करने की बात यह है कि फल की इयत्ता पिछले कर्मों पर रख दी गई । यह तो नहीं कहा कि नये कर्म इंयत्ता में भेद नहीं डाल सकेंगे । यह तो आपने कल्पना से जोड़ लिया। यदि पिछले कर्म ही होते और नये कर्म का सर्वथा अभाव होता तो फल उतना ही रहता, अधिक न रहता परन्तु जीव का कर्तृत्व

तो कभी नष्ट नहीं होता। यदि शुभ कर्म न करेगा तो अशुभ करेगा। कर्त्तव्य न करना भी उतना पाप है जितना अकर्त्तव्य का करना। इसलिये जब आप नये कर्म करते हैं और उनका विपाक भी उनकी अपेक्षा से होता रहता है तो पिछले कर्मों से कमाये हुए फलों की इयत्ता में भी भेद हो ही जाना चाहिये। न्याय और तर्क से यह सिद्ध होता है। यदि आपकी पहली स्त्री मर गई तो उसके मरने में आप के तथा उसके कर्म आधार थे परन्तु आपका दूसरा विवाह करना तो आपका कर्म है। आप इसको जान बूझकर कर रहे हैं। चाहे करें, चाहे न करें। इसलिये यदि इस नये कर्म का आप पिछले भोग से सम्बन्ध लगाकर अपनी वासना के लिये बहाना ढूँढना चाहते हैं तो यह बड़ी भूल है। विवाह करना कर्म है फल नहीं। अतः इस कर्म को पिछले कर्मों का फल बताकर अपने ऊपर से दोष हटाना अन्याय है।

भोग अगले कर्मों के लिए क्षेत्र बनाने हेतु

प्रश्न—तो क्या हम अपने भोगों में परिवर्तन कर सकते हैं ?

उत्तर—चाहें तो कर सकते हैं। या यों कहना चाहिये कि अवश्य कर सकते हैं और करते रहते हैं। एक लौकिक उदाहरण लीजिये। मैंने मार्च भर नौकरी की। पहली अप्रैल को २००) रु० वेतन रूप में मिला। मार्च की नौकरी कर्म थी। २००) रु० वेतन उसका फल है। इसको आप जाति, आयु और भोग तीनों ही कह सकते हैं। क्योंकि यह रुपयों की प्राप्ति एक अंश में परिस्थिति, काल और सुख दुःख तीनों का ही विधायक है। इन दो सौ रुपयों यदि मैं बुद्धिमत्ता से व्यय करूँ तो उनसे बहुत से आगे होने वाले

शुभ कर्मों का साधन उत्पन्न कर सकता हूँ और **यदि उसी दिन जुआ खेल कर हार जाऊँ तो आज ही जाति, आयु और भोग तीनों को गड़बड़ में डाल सकता हूँ।** यह दो सौ रुपये की इयत्ता ठीक-ठीक मेरी पिछली कमाई का फल थी। यदि केवल पिछली कमाई का ही प्रश्न होता और किसी प्रकार मेरे भविष्य का उत्तरदायित्व या कर्तृत्व मुझ से छीन लिया जाता और मैं ऐसी अवस्था में डाल दिया जाता कि कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथा कर्तुं के सर्वथा अशक्त होता तो २००) रु० की इयत्ता में कमी या बढ़ती न होती परन्तु यह तो मेरे स्वाभाविक अधिकार पर कुठाराघात होता। कर्तृत्व और उसका उत्तरदायित्व मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है। **यह दो सौ रुपये दिये ही मुझे इसलिये गये हैं कि अगले कर्मों के लिये क्षेत्र बना सकूँ।** अतः मेरे अगले कर्म इस इयत्ता को भी कम या अधिक करेंगे। इयत्ता फल की है। फल से उत्पन्न होने वाले कर्मक्षेत्र की नहीं। इसलिये मुझे अधिकार है कि मैं उस फल से अपने क्षेत्र को उत्कृष्ट या निकृष्ट कर सकूँ। **ईश्वर ने पिछले कर्मों का फल देकर मेरे स्वातन्त्र्य को छीना नहीं अपितु स्वातन्त्र्य के प्रयोग के लिये साधन उत्पन्न कर दिया।** मेरा अधिकार है कि आज दुर्व्यसनों में फँसकर दो सौ रुपयों को नष्ट कर दूँ और कल से भीख माँगता फिरूँ अथवा इस प्रकार व्यय करूँ कि कल कई गुने अधिक साधन प्राप्त हो जायें। इसी प्रकार पिछले जन्म के कर्मों द्वारा जो मुझ को जाति, आयु और भोग की प्राप्ति हुई उसको मैं वर्तमान जन्म के आचरणों द्वारा घटा बढ़ा सकता हूँ इसीलिये वेद तथा शास्त्रों में आयु की वृद्धि, उन्नति की वृद्धि और सुख की वृद्धि के साधन दिये जाते हैं। और मृत्यु, रोग, ह्रास तथा दुःख के कम

करने के भी साधन दिये जाते हैं। समस्त आचारशास्त्र की भित्ति ही इस सिद्धान्त के ऊपर है कि हम आयु, वातावरण तथा सुख में वृद्धि कर सकते हैं। किसी शास्त्र में ऐसा नहीं लिखा कि आयु नहीं बढ़ सकती, परिस्थिति नहीं बदल सकती, भोगों में परिवर्तन नहीं हो सकता। योगदर्शन का जो सूत्र इस प्रसंग से सम्बद्ध है उस सूत्र में ऐसा नहीं है, न अगले किसी सूत्र में इसका उल्लेख है। विभूतिपाद में जो विभूतियाँ दी हुई हैं उनका कोई अर्थ ही नहीं रहता यदि जन्म, आयु और भोग इस सीमा तक निश्चित हैं कि इन में परिवर्तन की कतई सम्भावना ही नहीं। एक बात तो आप प्रत्यक्ष देख सकते हैं। कर्मों का फल सुख या दुःख के रूप में होता है। सुख या दुःख मानसिक वस्तु है शारीरिक नहीं। ज्ञानी और योगी लोग इस मानसिक दुःख को ज्ञान द्वारा कम कर सकते हैं और मूर्ख बढ़ा सकते हैं। जिस पुरुष ने वैराग्य द्वारा अपने मन को वश में कर लिया, वह घोर से घोर दुःख को असह्य से सह्य बना सकता है।

इस जन्म का फल क्या इस जन्म में ही मिल सकता है ?

प्रश्न—क्या कोई ऐसा शास्त्रीय प्रमाण दे सकते हो कि इस जन्म में भी इस जन्म के किन्हीं कर्मों का फल मिल सकता है?

उत्तर—बहुत से। हाँ ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसमें लिखा हो कि जो कर्म हम इस जन्म में करते हैं उसमें से किसी का भी फल इस जन्म में नहीं मिल सकता। देखिये—

(१) **देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्। देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥**

हम देवों के खान-पान को प्राप्त करें। जिससे वे देव हमारी

आयु को बढ़ाने में सहायक हों ।

इसी से मिलता जुलता है मनुस्मृति का यह श्लोक–

(२) **अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।**
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥

"जो सदा नम्र सुशील विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है उसकी आयु, विद्या कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करते उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते ।"

(३) **दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।**
दुःख भागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

दुराचारी इसी लोक में (लोके) दुःख का भागी और अल्पायुः होता है । "लोके" शब्द इस प्रसङ्ग में विचार के योग्य है ।

(४) **क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।**

यहाँ कर्माशय को "दृष्टजन्मवेदनीयः" और 'अदृष्टजन्म-वेदनीयः' बताया है । अर्थात् कुछ कर्मों का फल इसी जन्म में मिलता है । कुछ का दूसरे जन्म में ।

व्यास भाष्य में लिखा है–

तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तितः ईश्वरदेवता-महर्षिमहानुभावानामाराधनाद् वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति ।

अर्थात् जो तीव्र शुभ कर्म हैं वे 'सद्यः' (शीघ्र ही) अर्थात् इसी जन्म में पक कर फल देते हैं ।

तथा **भीतक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशय सद्य एव परिपच्यते ।**

अर्थात् तीव्र अशुभ भी इसी जन्म में (सद्यः) पक कर फल देते हैं ।

यहाँ नन्दीश्वर और नहुष का उदाहरण देकर इसी बात को स्पष्ट किया है ।

इसी सूत्र की 'भोजवृत्ति' में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यही बात दी है–

अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः ।
जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्ट जन्मवेदनीयः ॥

तथाहि कानिचित् पुण्यानि कर्माणि देवताराधना दीनि तीव्रसंवेगेन कृतानि इहैव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छन्ति ।

"इहैव जन्मनि" का केवल एक ही अर्थ हो सकता है । अर्थात् कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका फल इसी जन्म में मिल जाता है।

(५) **जन्मौषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः सिद्धयः ॥**

व्यासभाष्य–

देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः । ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादिः । मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः । तपसा सङ्कल्पसिद्धिः । कामरूपी यत्र तत्र कामज इत्येवमादिसमाधि जाः सिद्धयो व्याख्याताः ।

यहाँ सिद्धियाँ दो प्रकार की बताई । एक वह जो दूसरे जन्म में फल लाती हैं । दूसरी वह जो इसी जन्म में फल देती हैं ।

(६) महर्षि जैमिनि की पूर्व मीमांसा के सूत्र ४।३।२८ पर शाबर भाष्य देखिये–सूत्र २७ में पूर्वपक्ष दिया है और सूत्र २८ में उत्तर पक्ष । हम यहाँ दोनों सूत्रों को अधिकरण सहित देते हैं जिससे

विदित हो जाय कि जैमिनि और शाबर के समय में भी यह प्रश्न उठा था और जैमिनि का उत्तर स्पष्टतया यही बताता है कि कुछ ऐसे भी कर्म हैं जो इसी जन्म में फल दे सकते हैं ।

अधिकरण १२–(सूत्र २७, २८) इन दर्श पौर्णमास आदि यागों का फल इस जन्म में भी मिलता है और अगले जन्म में भी।

तत्र सर्वे अविशेषात् । (सूत्र ४।३।२७)

(सर्वे) सब फल (तत्र) जन्मान्तर में मिलेंगे । (अविशेषात्) विशेषता का उल्लेख न होने से ।

"सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः" (ब्रह्मवर्चस चाहने वाला सौर्य देवता के चरु से याग करे ।) (तैत्तिरीय संहिता २, ३, २, ३)

"ऐन्द्राग्निमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः ।" (सन्तान चाहने वाला इन्द्र, अग्नि देवता के लिये ११ कपालों पर पकाया हुआ पुरोडाश करे ।) (तैत्तिरीय संहिता २।२।१।१)

"चित्रया यजेत् पशुकामः ।" (पशु चाहने वाला चित्रा याग करे ।) (तैत्तिरीय संहिता २।४।६।१)

"वैश्वदेवीं सांग्रहायणीं निर्वपेद् ग्रामकामः ।" (गाँव चाहने वाला विश्वे देवों के लिये 'सांग्रहायणी यज्ञ करे ।) (तैत्तिरीय संहिता २।३।९।२)

यहाँ प्रश्न यह है कि ये कामनाएं इस लोक में प्राप्त होंगी या परलोक में ।)

(पूर्वपक्ष) परलोक में । क्योंकि कोई विशेषता नहीं । जो बात स्वर्ग प्राप्ति में है वही यहाँ भी लागू होती है । अर्थात् स्वर्ग की कामनाओं और इन कामनाओं में कोई भेद नहीं । वस्तुतः यज्ञ

करने के बाद तुरन्त ही तो सन्तान, पशु आदि फल मिल नहीं जाते। जब फल किसी काम के बाद तुरन्त मिल जाय तो कहेंगे कि इस काम का यह फल है। जैसे शरीर के मलने से तुरन्त सुख का अनुभव होता है, जो फल कालान्तर में मिलता है प्रत्यक्ष में उसका कारण तो और ही होता है। (जैसे ख़रीदने के लिये दाम दिये तो पशु मिला।)। शरीर की प्राप्ति का तो अदृष्ट के अतिरिक्त कोई और कारण पाया नहीं जाता। इस लिये जिन श्रुतियों में कहा गया है कि अमुक याग का अमुक फल होगा तो इसका यह अर्थ है कि इस याग के करने से दूसरे जन्म में इस प्रकार का शरीर, इन्द्रिय आदि मिलेंगे जिनके द्वारा इष्ट फलों की प्राप्ति हो सकेगी। यह बात नीचे लिखे वचन से स्पष्ट सिद्ध है—

कैकेयो यज्ञं विवित्सन् दालभ्यमुवाच—अनया मा राष्ट्रप्रतिपादनीययेष्ट्यां याजयेति। सोऽब्रवीत् न वै सोम्य राष्ट्रप्रतिपादनीयां वेत्थ। अमुष्मै कामाय यज्ञा आह्रियन्ते।

कैकेय ने यज्ञ करने की इच्छा से दालभ्य से कहा कि आप ऐसा यज्ञ करा दीजिये जिससे राष्ट्र की प्राप्ति हो। दालभ्य ने कहा—भाई ऐसा मत समझो कि यज्ञ करने से इसी जन्म में राष्ट्र प्राप्त हो जाते हैं। यज्ञ तो परलोक के लिये ही किये जाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि काम्य कर्म दूसरे जन्म के फलों की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।

(उत्तर पक्ष)

योग सिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पतत्यसंयोगित्वात् ॥ (सूत्र ४।३।२८)

अर्थ—इसी जन्म में फल-सिद्धि होनी चाहिये। अन्यथा आदेश वाली श्रुतियाँ का योग सम्भव न होगा। जब कहा कि अमुक

यज्ञ का अमुक फल होगा तो यह तो नहीं कहा कि इस जन्म में नहीं होगा । यह ठीक है कि कर्मों का फल इसी जन्म में पाया नहीं जाता परन्तु यद्यपि इसके लिये प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण नहीं तथापि वेद का प्रमाण तो है ही । पूर्वपक्ष ने यह कहा था कि कालान्तर में जो फल मिलता है उसका दूसरा कारण भी देखा जाता है (जैसे पशु की प्राप्ति क्रय द्वारा हुई । अतः पशु यज्ञ का फल नहीं, अपितु क्रय का है) । इसका उत्तर यह है कि दोनों कारण हो सकते हैं (क्रय भी और याग भी) पूर्व पक्ष ने कहा कि "यज्ञ परलोक के लिये ही किये जाते हैं ।" इसका उत्तर यह है कि दालभ्य के वचन का तुमने ठीक ठीक अर्थ नहीं समझा । उनका तात्पर्य यह है कि हे कैकेय, मैं ऐसा यज्ञ कराना नहीं चाहता जिसका इसी जन्म में फल हो । मैं तो परलोक के लिये ही यज्ञ कराता हूँ ।

सञ्चित क्रियमाण और प्रारब्ध

प्रश्न—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मों का क्या अर्थ है और इस विभाजन का आधार क्या है ?

उत्तर—जो कर्म मनुष्य करता है वे वर्तमान में क्रियमाण हैं, जो कर्म बिना फलित हुए इकट्ठे हो जाते हैं उनको सञ्चित कहते हैं । सञ्चित कर्मों में से जिनका विपाक हो जाता है अर्थात् जो पक कर फल देने लगते हैं उनको प्रारब्ध कहते हैं । जो कर्म मैं इस समय अर्थात् वर्तमान् में कर रहा हूँ वे क्रियमाण हैं, थोड़ी देर में यह वर्तमानकाल भूतकाल बन जायेगा, उस समय ये क्रियमाण कर्म सञ्चित हो जाएंगे । सञ्चित का अर्थ है इकट्ठा किया हुआ (सम्+चित) । हम को फल इन्हीं सञ्चित कर्मों का मिलेगा परन्तु समस्त सञ्चित कर्म एक से नहीं होते न उनका फल एक ही समय

में मिलता है। मोटे रूप से आप समझ सकते हैं कि पालक का साग बोने से दो मास में फल मिल जाता है। अमरूद का बीज बोने से कई वर्ष में फल लगता है। कटहल का बीज बोने से फल पाने की अवधि और भी अधिक हो जाती है। आप किसी को गाली देवें तो वह तुरन्त आपको गाली देगा या तमाचा मारेगा। यदि आप उसका माल छीन लें तो पुलिस में रिपोर्ट होगी और सज़ा पाते एक साल लग सकता है ! यदि आप किसी को मार डालें तो सम्भव है कि आपको फाँसी पाने में दो तीन वर्ष लग जाएं। इसी प्रकार कर्मों की व्यवस्था है। जो कर्म हमारे सञ्चित हैं उनमें से दैवी मर्यादा के अनुसार कुछ का फल अभी मिलेगा कुछ का दो चार वर्ष में और कुछ का जन्म जन्मान्तर में। यह जान सकना मनुष्य के लिये कठिन है कि किस कर्म का फल कब मिलेगा; क्योंकि यद्यपि समस्त सञ्चित कर्मों का लेखा सूक्ष्म रूप में हमारे अन्तः पटल पर अंकित है; परन्तु हम उन सब को पढ़ नहीं सकते। जिस प्रकार समस्त सञ्चित ज्ञान का जो हमारे अन्तःपटल पर एकत्रित है प्रत्यक्ष ज्ञान हम को हर समय नहीं होता, कालान्तर में कुछ की स्मृति आ जाती है और कुछ की नहीं। इसी प्रकार यह भी है। जब कर्म पक कर फल देने लगते हैं तो उन्हीं का नाम प्रारब्ध हो जाता है अर्थात् क्रियमाण कर्म का अन्त सञ्चित हो जाता है और सञ्चित में से जो जो कर्म फल देने लगते हैं उनको प्रारब्ध कहते हैं। हमारा अधिकार क्रियमाण कर्मों पर है। चाहे करें चाहे न करें परन्तु जब तीर कमान से निकल गया तो वापस नहीं आ सकता।

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।"

क्योंकि इन सञ्चित कर्मों के भण्डार में से किस कर्म का

विपाक कब होगा यह ईश्वर की व्यवस्था से होता है, अर्थात् सञ्चित कर्मों के पुञ्ज में से कब कौन सा प्रारब्ध बन जायेगा। प्रारब्ध को लोग 'तकदीर' कहते हैं क्योंकि इसमें 'कुदरत' अर्थात् ईश्वर का हाथ है। हम विवश हैं लेकिन इस तकदीर का मूल निमित्त तो तदबीर अर्थात् क्रियमाण कर्म ही थे।

वस्तुतः क्रियमाण कर्म ही कर्म हैं। क्योंकि कर्त्ता का स्वातन्त्र्य क्रियमाण में ही विद्यमान है। ज्यों ही वह सञ्चित हुआ, कर्म की वास्तविक परिभाषा से बाहर हो जाता है। उसे कर्मों का लेखा कह सकते हैं, कर्म नहीं। और प्रारब्ध कर्म नहीं अपितु फल है। अर्थात् वह पक कर फलस्वरूप में परिवर्तित हो चुके। उसको कर्म केवल इसलिये कहते हैं कि फलों का मूल कारण हमारी दृष्टि से ओझल न हो जाय और यह न समझ बैठें कि हमारे सुख या दुःखों का हमारे कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न—हम तो सुनते आये हैं कि हमारे पिछले जन्मों का फल इस जन्म में मिल रहा है और इस जन्म के कर्मों का अगले जन्म में मिलेगा।

एक निराधार कल्पना—

उत्तर—आपने जो सुना वह एक अंश में ठीक है लेकिन आधी सच्चाई है, आधी निराधार कल्पना है। **सच्चाई इतनी है कि इस जन्म में जो फल सुख या दुःख रूप में हम को मिल रहा है वह सभी इसी जन्म के कर्मों का नहीं है।** इसमें बहुत कुछ पिछले जन्म या जन्मों का भी है, और जो कर्म हम इस जन्म में कर रहे हैं वे सभी इसी जन्म में फलीभूत न हो सकेंगे। कुछ अगले जन्मों के लिये भी सञ्चित रहेंगे।

निराधार कल्पना इतनी है कि इस जन्म में हमारे इस जन्म में किये हुए किसी कर्म का फल न मिलेगा । समस्त कर्मपुञ्ज भविष्य के लिये इकट्ठा रहेगा ।

इस निराधार कल्पना का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि हम भाग्यवादी हो गये हैं । हम समझते हैं कि इस जन्म में हम को जो दुःख या सुख मिलना है उस पर इस जन्म के कर्म कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते । **दूसरा जन्म इतनी दूर है कि उसका भय कम हो जाता है ।** जब बच्चा जानता है कि कई छोटी बुराइयों की सज़ा माता पिता तुरन्त दे देंगे तो वह डरता है । देर में दी जाने वाली बड़ी सज़ा का भी इतना भय नहीं होता जितना तुरन्त दी जाने वाली छोटी सज़ा का । जिस काम के फलस्वरूप मुझे चालीस वर्ष पीछे पचास हज़ार मिलेगा उसका आकर्षण इतना नहीं होता जितना आज सायंकाल को मिल जाने वाले ५०) रुपयों का होता है ।

प्रश्न—कुछ भोगवादी ऐसा कहते हैं कि जो कर्म फल की आकांक्षा से किये जाते हैं वे कर्म नहीं अपितु भोग हैं । जैसे मैंने नौकरी की यह कर्म है । उसका वेतन १००) रु० मिला यह फल है । इन १००) रुपयों से मैंने बाज़ार में जाकर भोजन वस्त्र ख़रीदे। यह कर्म नहीं अपितु फल अर्थात् भोग के ही सिलसिले का एक अंश हैं । इसी प्रकार हम जितने कर्म अपने स्वार्थ के लिये करते हैं वे सब भोग के ही अन्तर्गत आ जाते हैं । कर्म वही है जो हम अपने स्वार्थ के लिये नहीं अपितु परार्थ के लिये कर्त्तव्य समझ कर करते हैं ।

उत्तर—यह क्लिष्ट कल्पना है । यथोचित बात नहीं । जो कर्म केवल परार्थ के लिये ही किये जायेंगे और कर्त्तव्य समझकर

ही किये जायेंगे, यदि वही कर्म समझे जायें और उनके अतिरिक्त और क्रियाओं को कर्म की कोटि से निकाल दिया जाय तो अशुभ कर्म तो कोई नहीं रहेगा। एक कर्म होगा और दूसरा फल–जिन को हम अशुभ कर्म कहते हैं, वह भोग के सिलसिले का ही एक अंश होंगे। चोर कहेगा कि मैंने चोरी न तो परार्थ के लिये की न कर्त्तव्य समझकर। मुझे भोग की आकांक्षा थी। उस भोग की पूर्ति के लिये ऐसा किया। इससे समस्त कर्त्तव्य शास्त्र ढोंग हो जायेगा।

कर्म क्या ? भोग क्या ?

वस्तुतः जो क्रियाएं हम स्वतन्त्रता से कर सकते हैं और जिनके करने न करने या उल्टा करने का हम को अधिकार होता है वे सब, चाहे छोटी हों चाहे बड़ी, कर्म की कोटि में आती हैं। हाँ, जो क्रियाएं हम पूर्ण विवशता से करते हैं और जिनके होने में हमारा किञ्चित् भी अधिकार नहीं वे फल की निमित्त मात्र हो सकती हैं क्योंकि उनको हम नहीं करते, कोई कराता है। कल्पना कीजिये हम को कोई जल पिलाता है हम पीते हैं। हम को अधिकार है कि न पिएं। तो इस जल का पीना कर्म है परन्तु यदि हम बेहोश पड़े हैं और कोई चिकित्सक हमारा मुँह यन्त्रों से खोल कर पानी डाल देता है तो भोग का निमित्त मात्र होगा और यह क्रिया दूसरे की होगी अपनी नहीं क्योंकि हम ने नहीं की। इसके किसी अंश पर हमारा अधिकार नहीं है।

प्रश्न–हम कोई काम स्वतन्त्रता से नहीं करते। परिस्थिति करा लेती है। हम परिस्थितियों से जकड़े हुए हैं। हमारे वश में छोटी सी चीज़ भी नहीं है। स्वतन्त्रता नाम मात्र की है। ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध पत्ता भी नहीं हिल सकता।

उत्तर–क्या हमारी इच्छा भी परवशता के आधीन है ?

प्रश्न–हाँ । दो मनुष्य दो प्रकार की इच्छा करते हैं । एक चोरी की और एक धन की रक्षा की। चोर के जीवन की परिस्थिति बताती है कि चोर अन्यथा कर ही नहीं सकता था और धन का स्वामी धन की रक्षा की इच्छा अपनी परिस्थितियों के कारण ही करता है । संसार का नियम अटल है । कोई टाल नहीं सकता । अतः स्वतन्त्रता की दुन्दुभी बजाना व्यर्थ है । जब स्वतन्त्रता नहीं तो क्या कर्म क्या फल ? क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य ? क्या शुभ क्या अशुभ ?

उत्तर–क्या स्वातन्त्र्य की इच्छा भी परिस्थितियों के कारण ही होती है ? यदि स्वतन्त्रता कोई चीज़ नहीं तो हम में स्वतन्त्रता की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है ? **और हम दूसरे मनुष्य के कर्मों के विषय में यह क्यों कहते हैं कि इसने यह भूल की** । इसको ऐसा करना चाहिये था ? या हम को अपने कर्मों पर पछतावा क्यों होता है कि यदि अमुक कार्य हम न करते तो अच्छा होता ?

आशा फिर भी बनी रहती है–

यह सम्भव है कि ईश्वर की आज्ञा के बिना पत्ता भी न हिले । लेकिन जब हम झूठ बोलने के लिये अपनी जीभ हिलाते हैं तो ईश्वर की आज्ञा से नहीं; अपितु अपनी स्वतन्त्रता से । इसीलिये झूठ बोलकर हम स्वयं भी समझते हैं कि हम ने अशुभ किया और दूसरे भी हमारे विषय में ऐसी ही धारणा रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति का सिद्धान्त सीमित है असीम नहीं । आत्मतत्त्व परिस्थिति से कुछ ऊपर है । हमारी परतन्त्रता एक अंश तक सीमित है सर्वांश में नहीं । यह ठीक है कि हम जो चाहें सो नहीं कर सकते,

न जब चाहें तब कर सकते हैं और न जिस प्रकार चाहें कर सकते हैं। **आँखों से सुन नहीं सकते। न कानों से उतना सुन सकते हैं जितना कि कभी कभी चाहते हैं।** हम तो वही सुनना चाहते हैं जो हम को प्रिय लगे, अर्थात् इस अंश में हम परिस्थितिबद्ध हैं **परन्तु परिस्थिति भी तो सीमित है और उसमें हम परिवर्तन कर सकते हैं।** दूर की चीज़ देखने के लिए उपनेत्र या अन्य यन्त्र बना सकते हैं। भीषण दृश्यों से आँखें मींच सकते हैं। हम अपनी परिस्थितियों को तोड़ने या कम करने के लिये सदा इच्छुक रहते हैं। यह हमारी नैसर्गिक प्रकृति है। कैदख़ाने का क़ैदी भागने का अवसर तकता ही रहता है। यदि परिस्थितियाँ ही सब कुछ होतीं तो ऐसी प्रवृत्ति कदापि न हो सकती। यही प्रवृत्ति हमारे पुरुषार्थ की मूल है। हम को विश्वास है कि यदि हम हाथ पैर मारेंगे तो कदाचित् बन्धन से छूट ही जाएंगे। इसी का नाम है आशा। **जब मनुष्य सब चीज़ों को खो देता है तब भी आशा जीवित रहती है। आशा क्या है ? अपने पुरुषार्थ पर विश्वास।**

प्रश्न—साइंस या विज्ञान से पता चलता है कि सृष्टि के सभी नियम अटल हैं। कोई तोड़ नहीं सकता। एक त्रिभुज के तीन कोण मिलकर सदैव १८० के होंगे। जल सदैव हाइड्रोजन के दो और आक्सीजन के एक अणु से मिलकर बनेगा (H_2O) इसी प्रकार बहुत से नियम हैं जिनको कोई मनुष्य अन्यथा नहीं बना सकता जैसे जड़ जगत् के अटल नियम हैं, इसी प्रकार चेतन जगत् अर्थात् प्राणिशास्त्र व मनोविज्ञान के भी नियम हैं। इन्हीं का नाम है परिस्थिति। फिर कर्म करने में स्वतन्त्रता कहाँ रही ? जैसी परिस्थिति होगी वैसे हमारे विचार होंगे, वैसे वचन और तदनुकूल ही कर्म। इस प्रकार

जिस को हम स्वतन्त्रता कहते हैं वह भी परतन्त्रता ही है, और जिस को हम चेतन कहते हैं वह भी जड़ का एक परिवर्तित रूप है। इस प्रकार कर्म का सिद्धान्त विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है। यदि प्रकृति के नियम अटल हैं तो भी विरुद्ध, और चलायमान हैं तो भी विरुद्ध, क्योंकि यदि प्राकृतिक नियम चलायमान मान लिये जाएं तो उनको नियम ही नहीं कह सकते और न यह निश्चित हो सकता है कि अमुक कर्म का अमुक ही फल होगा।

उत्तर—यह ठीक है कि प्राकृतिक नियम अटल हैं और यह भी ठीक है कि चेतन प्राणियों के शरीरों द्वारा जो हम क्रियाएं देखते हैं उनमें से अनेक ऐसी हैं जिन पर उनका वश नहीं है। वह अवश्यम्भावी हैं; परन्तु फिर भी यह कहना ठीक नहीं कि चेतन प्राणियों को उन पदार्थों से काम लेने में कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं।

हम नियमानुसार धारा बदल सकते हैं—

यह ठीक है कि पानी के बनाने में हाइड्रोजन और आक्सीजन का अनुपात निश्चित है, परन्तु उसी अनुपात से हम कितना पानी बनावें या न बनावें, यह हमारे अधिकार में है। प्राकृतिक नियमों की धारा अवश्य एक नियम के वशीभूत होकर बहेगी परन्तु उन्हीं नियमों के आधार पर हम उस धारा की दिशा भी बदल सकते हैं। जंगली देशों की नदियाँ एक ही ओर बहती हैं। सभ्य और शिक्षित जातियाँ अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से उनकी दिशाओं को बदल कर नहरें निकाल देती हैं। प्राणी वर्ग ने अपने क्षेत्र में कितना परिवर्तन किया है, इससे हम अपनी आँख नहीं मीच सकते। अन्यथा सभ्यता और असभ्यता में कोई भेद नहीं रहे। **समस्त जगत् के त्रिभुजों के लक्षण एक से हैं परन्तु सब प्राणियों का तो एक सा हाल**

नहीं है । बुद्धि अर्थात् निर्वाचन करने की योग्यता मनोविज्ञान के अध्ययन का एक विशेष अंग है । इसके नियम गणित, भौतिकी या रसायन के नियमों से भिन्न हैं । मैं और आप एक ही प्रकार नहीं सोचते और न एक सी परिस्थितियों का एक सा ही प्रयोग करते हैं ।

जिस विषय पर हम वाद-विवाद कर रहे हैं उस पर भी भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं । ऐसा क्यों ? यदि सृष्टि प्राणियों को सोचने की स्वतन्त्रता न देती तो यह भिन्नता भी न होनी चाहिये थी ।

विज्ञान या सायंस के साथ ही उसका अनुगामी कला या आर्ट भी तो है । यह कला मानवी या प्राणिवर्ग की देन है । अतः कर्म या अकर्म और विकर्म का प्रश्न तो बना ही रहता है ।

प्रश्न—कर्म भी तो एक प्रकार की गति ही है ।

उत्तर—आपने ठीक कहा । यह गति है परन्तु "एक प्रकार की", जिसका कर्त्ता है चेतन । प्रत्येक गति कर्म नहीं है । मैं कलम से लिख रहा हूँ । यह गति है परन्तु कलम की प्रत्येक गति को तो लेखन कला नहीं कह सकते । लेखन चेतन कृत कर्म है । उसमें चेतन कर्त्ता का उत्तरदायित्व ही कर्म-फल के सिद्धान्त का प्रस्तोता है । विज्ञान का समझना और उसके अनुकूल कला का आविष्करण यह सब चेतन का काम है ।

प्रश्न—जड़ और चेतन दोनों की जातियाँ प्राकृतिक अटल नियमों (कुदरत या Nature) के आधीन हैं । उसमें भेद नहीं हो सकता ।

उत्तर—हो सकता है और है । यदि ऐसा न हो तो चेतन और जड़ में भेद ही न रहे और समस्त प्राकृतिक नियम निरर्थक

हो जाएं । **वस्तुतः समस्त जड़ जगत् चेतन जगत् के लिये है।** चेतन जगत् जड़ के लिये नहीं । दावत मेहमान के लिये है, मेहमान दावत के लिये नहीं । चेतन का प्रयोजन है । जड़ का अपना कोई प्रयोजन नहीं । मैं घर में रहता हूँ, घर मेरे लिये है । मैं घर के लिये नहीं । चेतन प्रयोजन सहित सत्ता है । जड़ प्रयोजन रहित सत्ता है । प्राकृतिक नियमों का सिद्धान्त यह है कि वे चेतन सत्ताओं की पूर्ण उदारता के साथ सहायता करें परन्तु चेतन सत्ताओं की स्वतन्त्रता में किंचितमात्र भी बाधक नहीं । (Nature is most liberally helpful but most studiously uninterfering) यह नियम समस्त सृष्टि में ओत प्रोत है। और यह कर्म के सिद्धान्त का आधारभूत है । समस्त जगत् के सभ्यता-शास्त्र के पोषक और आचार-शास्त्र तथा धर्मशास्त्र के प्रवर्तक किसी न किसी रूप में इस मौलिक नियम को मानते हैं ।

पशु-पक्षी भोग योनियाँ-

प्रश्न-आप तो पशु-योनियों को भी कार्य की स्वतन्त्रता देते हैं । हम ने तो सुन रखा है कि पशु-पक्षी भोग-योनियाँ हैं, कर्म-योनियाँ नहीं ।

उत्तर-आपने ठीक सुना है परन्तु अर्थों के समझने में भेद है । जीव का कर्तृत्व तो स्वाभाविक गुण है । वह उससे किसी दशा में भी नहीं छूट सकता । जहाँ कर्तृत्व है, वहा कर्म की स्वतन्त्रता है । पशु भी भूल करते हैं और उन को दण्ड भी मिलता है । और दण्ड को पाकर वह सचेत भी हो जाते हैं। भूल करना, दण्ड पाना, दण्ड पाकर सचेत हो जाना ये तीनों बातें पशु-पक्षियों में पाई जाती हैं और ये तीनों उनकी कर्तृत्व की स्वतन्त्रता का प्रमाण हैं । केवल

एक भेद है । जहाँ तक सामाजिक नियमों का सम्बन्ध है पशुओं में कर्त्तव्यता का अभाव है । क्योंकि उनकी बुद्धि का विकास उतना नहीं होता कि सामाजिक कर्त्तव्यों को समझ सकें । यह बात मनुष्य के बच्चों पर भी लागू होती है । बच्चे यद्यपि मनुष्य-योनि हैं, तथापि उनका उत्तरदायित्व कई बातों में होता ही नहीं । गधा भूल करता है तो दण्ड पाता है, बच्चा भी जब भूल करता है तो दण्ड पाता है । गधा दण्ड पाकर अपने को सुधार लेता है । बच्चा भी दण्ड पाकर अपने को सुधार लेता है परन्तु जिस सीमा को पार कर के सामाजिक, नागरिक तथा धार्मिक कर्त्तव्यता और उत्तरदायित्व का आरम्भ होता है, वह पशुओं और बच्चों में नहीं होता । इसका यह अर्थ नहीं कि कर्त्तव्यता का सर्वथा अभाव है । सीमाओं में भेद है । अतः पारिभाषिक अर्थों में कहा जाता है कि पशु-पक्षी भोग योनियाँ हैं कर्म-योनियाँ नहीं । जहाँ करने, न करने, उलटा करने के तीन मार्गों में से एक के चिह्न पाये जावें, वहाँ सर्वत्र जीवत्व और उत्तरदायित्व है। अतः कर्त्तव्यता माननी चाहिए। कर्त्तव्यता सापेक्षिक वस्तु है । वह जीव के बौद्धिक विकास के आश्रित है । कर्त्तव्यता का पालन आगे के विकास का साधन होता है। इस प्रकार कर्म-फल की शृङ्खला निरन्तर जारी रहती है । यह उन्नति की सीढ़ियाँ हैं । हर डण्डे पर पैर रखने से आगे का चढ़ना सुगम हो जाता है । इसी प्रकार हर कर्म से ज्ञान की वृद्धि होती है और उस ज्ञान-वृद्धि से कर्त्तव्यता की सीमा बढ़ जाती है ।

प्रश्न—मनुष्य ही चेतन है कि अन्य प्राणी भी ?

उत्तर—अन्य प्राणी भी । कुत्ते, बिल्ली, चींटी, कीट, पतंग ये सब चेतन हैं; क्योंकि ये करने, न करने और उल्टा करने में समर्थ

हैं । इनमें स्वतन्त्रता है ।

प्रश्न—हम यह सुनते आये हैं कि मनुष्य कर्मयोनि है और अन्य प्राणी केवल भोग योनि हैं। यह कहाँ तक ठीक है ।

उत्तर—जहाँ तक हमारे सामाजिक नियमों का सम्बन्ध हैं ? यह ठीक है । इन नियमों के अनुसार तो मनुष्य के नवजातक या अल्पवयस्क बालक भी कर्मयोनि में सम्मिलित नहीं समझे जा सकते । यदि एक बच्चा किसी बड़े पुरुष के वस्त्रों पर पेशाब कर दे या उसकी दाढ़ी मूँछ पकड़ ले तो उसको कोई अपराधी या दण्ड्य नहीं समझता । क्योंकि बच्चे की बुद्धि अभी विकसित नहीं हुई परन्तु क्या आप उसको भोगयोनि कहेंगे ? यदि ऐसा हुआ तो मनुष्य में भी कर्मयोनि और भोगयोनि की भेदक भित्ति स्थापित करनी पड़ेगी। पागल मनुष्य भोग योनि कहलाएंगे । वस्तुतः वृद्ध अवस्था का कोई जीव चाहे मनुष्य हो चाहे क्षुद्र योनि, भोग और कर्म दोनों योनियों से मुक्त नहीं हो सकता । कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये दोनों जीव के स्वाभाविक गुण हैं । इनके आविर्भाव और तिरोभाव में सापेक्षिक न्यूनता या आधिक्य हो सकता है, परन्तु इसका सर्वथा लोप नहीं होता । यदि कुत्ते, बिल्लियाँ, बन्दर केवल भोगयोनि हों, कर्मयोनि न हों तो वे अपने कर्मों के उत्तरदाता भी न होंगे । फिर आप उनको काम बिगाड़ने पर मारते क्यों हैं ? और वे आप की मार से डर कर अपने व्यवहार में भिन्नता क्यों प्रकट करते हैं ? यदि बन्दर कर्मयोनि न हो तो उस को नचाया नहीं जा सकता । यदि घोड़ा कर्मयोनि न हो तो स्वामिभक्त नहीं बन सकता । इसी प्रकार क्षुद्र से क्षुद्र जन्तुओं का हाल है ।

पशु भोगयोनि व कर्मयोनि दोनों–

इनके भोग योनि कहने का अभिप्राय केवल इतना है कि सभ्य मानव समाज के 'समाज-क्षेत्र' में केवल मनुष्य को ही कर्मयोनि कहा गया है और वह भी विकसित बुद्धि मनुष्य (बालिग़ आदमी) को। यह परिभाषा कानून (law) की है। दर्शन (Philosophy) की नहीं। कानून में पागल, नाबालिग़ या मस्तिष्क के रोगी या अविकसित बुद्धि वाले मनुष्य को भी कर्म के उत्तरदायित्व से मुक्त किया गया है। सर्वथा वह भी नहीं। केवल कानूनी--सीमा तक। अर्थात् आप अपने तीन वर्ष के बालक को भी चोरी करने पर मार सकते हैं और उस मार से उसका सुधार हो सकता है परन्तु न्यायालय में उसे चोरी के लिये न कारागार होगा न जुर्माना। यही हाल इक्के के टट्टू का भी है। अत्यन्त क्षुद्र जीव न्यायालयों के क्षेत्र से बाहर हैं। उन पर उनका वश नहीं। अत: दण्ड शास्त्र (Penal Code) उनके लिये नहीं हैं। जहाँ तक कर्म के उत्तरदायित्व का प्रश्न है विकास की आयु (बालिग़ होने की अवस्था भी भिन्न-भिन्न मानी गई है। अठारह वर्ष का बालक अपराधशास्त्र (Criminal Code) के अनुसार बालिग़ है परन्तु सम्पत्ति-शास्त्र (माल के मामले) में नाबालिग़ है। यदि वह चोरी करेगा तो दण्डनीय होगा परन्तु यदि अपनी सम्पत्ति बेचेगा तो वह असंगत समझा जायेगा। इससे स्पष्टतया सिद्ध है कि स्मृतिकारों ने जहाँ कर्म योनि और भोगयोनि की मीमांसा की है वे केवल मानव-समाज के शासन के हेतु हैं। यह कर्मफल के दार्शनिक सिद्धान्त पर लागू नहीं होती। कानून के विषय में भिन्न-भिन्न जातियों, सभाओं या देशों में उत्तरदायित्व (बालिग़ होने) की आयु भिन्न-भिन्न है। भारतवर्ष के हिन्दू ला में विवाह के विषय

में स्त्री पुरुष कब कर्मयोनि में प्रविष्ट होते हैं, यह एक टेढ़ी समस्या है। बालकपन में विवाहे जाने वाले तो पशुवत् भोगयोनि में ही गिने जाएंगे; क्योंकि उनको करने न करने और अन्यथा करने का कुछ भी अधिकार नहीं। कहीं-कहीं तो लड़के लड़कियों को बेचा जा सकता है। अतः इस सम्बन्ध में समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र में विवेक से ही काम लेना पड़ेगा। समाज व्यक्तियों को बहुत सी बातों में अपने अनुशासन-क्षेत्र से बाहर समझता है और उनमें हस्तक्षेप नहीं करता। इसका यही अर्थ है कि उन बातों में व्यक्ति समाज के लिये उत्तरदाता नहीं। यद्यपि परमात्मा के प्रति या सृष्टिक्रम के लिये उत्तरदाता है।

मनुष्य पशु-पक्षी योनियों में जन्म ले सकता है-

प्रश्न-क्या मनुष्य मरकर पशु, पक्षी की योनि में जन्म ले सकता है ?

उत्तर-हाँ ले सकता है यदि कर्म इस योग्य हों तो।

प्रश्न-यह तो मोक्ष का साधक नहीं हुआ। मनुष्य को मनुष्य की उत्कृष्ट योनि से उतार कर नीचे की योनियों में फेंक देना मोक्ष के मार्ग में बाधा डालना है।

उत्तर-नहीं। नीच योनियाँ उन प्रवृत्तियों को हटाने के लिये हैं जो मोक्ष के मार्ग में बाधक रही हैं। जब मनुष्य घोर अशुभ कर्म करने लगता है और मोक्ष के मार्ग से बहुत दूर पराङ्मुख हो जाता है तो उन प्रवृत्तियों से हटाने के लिये स्वतन्त्रता का क्षेत्र संकुचित कर दिया जाता है। जिससे अशुभ कर्म की प्रवृत्ति विस्मृत या क्षीण हो जाये। देखिये एक हिंसक मनुष्य और हिंसक सिंह में कितना भेद है। जब मनुष्य में हिंसा की वृत्ति बहुत बढ़ जाती है तो वह

अनेक उपायों से दूर दूर के प्राणियों की हत्या करता है। पक्षियों को गोली मारता है। समुद्र की मछलियों और मगरमच्छों को मारने के लिये महायन्त्रों का आविष्कार करता है। और उनके मांसों को न केवल अपने आज के आहार के लिये ही अपितु सैकड़ों मील की दूरी पर बैठे हुए अपने भाइयों के लिये भी पहुँचाता है और कई महीनों तक उस मांस को सुरक्षित रखने के उपाय सोचता रहता है। अपने शत्रुओं को हिंसा पहुँचाने के लिये बम आदि विचित्र साधनों का आविष्कार करता है। मनुष्य कितना हिंसक प्राणी है। यदि उस हिंसा की प्रवृत्ति को हटाने के लिये उसे शेर की योनि मिली तो उसकी हिंसा वृत्ति का क्षेत्र कितना संकुचित हो गया। वह हत्या करता है परन्तु केवल अपने खाने के लिये और केवल आज के खाने के लिये, वह चौबीस घंटे हिंसावृत्ति के चक्कर में नहीं रहता। इसलिये नीच योनियाँ भी कुप्रवृत्तियों के प्रभाव को कम करने में साधक हैं। जब ये वृत्तियाँ क्षीण या संकुचित हो जाती हैं तो फिर मनुष्य बनकर उसका मोक्ष का मार्ग खुल जाता है। उसका मुँह उलटकर मोक्ष की ओर फिर जाता है। यदि उस समय वह कर्म के सिद्धान्तों का परिज्ञान प्राप्त करके अपने तीन काण्डों में संतुलन कर ले तो वह श्रेष्ठ बन सकता है।

प्रश्न—आर्यसमाज का सिद्धान्त है कि ईश्वर, जीव व प्रकृति अनादि हैं और सृष्टि प्रवाह से अनादि है। ईश्वर का उद्देश्य सृष्टि के रचने में जीवों को पुनर्जन्म के द्वारा उनके कर्मों का फल भुगाना और आध्यात्मिक उन्नति का अवसर देना है।

सांख्यतत्त्व के अनुसार प्राणियों की १४ प्रकार की सृष्टि है। एक मनुष्य, ५ इससे नीचे की जो तिर्यग् योनियाँ कहलाती हैं,

और ८ मनुष्य से ऊँची जो दिव्य योनियाँ कहलाती हैं। तिर्यग् योनियाँ ये हैं–(१) उद्भिज्ज (२) स्वेदज, (३) अण्डज (जलचर) (४) अण्डज (खेचर) और (५) जरायुज, इन सब में विकास (Evolution) द्वारा जीव उन्नति करता है। ८ दिव्य योनियाँ इस प्रकार हैं, (१) पितृ, (२) गान्धर्व (३) दैव, (४) इन्द्र, (५) प्राजापत्य, (६) ब्राह्म, (७) विदेह, (८) प्रकृतिलय। मनुष्य योनि में जीव को जितना आनन्द मिल सकता है। उससे सैकड़ों और लाखों गुणा इन योनियों (दिव्य योनियों) में मिलता है।[१] इसकी व्यवस्था तैत्तिरीयोपनिषद् की आनन्द वल्ली में की गई है। कई विद्वान् इनको मनुष्य योनि की ही विशेष अवस्था मानते हैं। पर आनन्द मीमासा में जिस प्रकार इनका वर्णन है, उससे यह मानना अधिक युक्त प्रतीत होता है कि ये जीव की ही मनुष्य से इतर व उच्चतर अवस्थाएं हैं। पुराणों में ये स्वर्ग की अवस्थाएं मानी गई हैं, और यह सिद्धान्त है कि जीव एक नियत समय तक इन योनियों में रह कर अपने कर्मानुसार फिर लौट कर मनुष्य योनि में आता है। मोक्ष का साधन मनुष्य योनि ही से है। यही बात गीता के अ० ६ में कही गयी है।

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन !
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

अर्थ–हे अर्जुन इन सब लोकों से, ब्राह्मलोक तक जीव फिर लौटता है। पर जिसने मुझको पा लिया, (गीता की भाषा में ब्रह्म को पा लिया), उसका फिर जन्म नहीं होता। इन दिव्य लोकों का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् के ८ अनुवाक में है और बृहदारण्यक उपनिषत् के अध्याय ४ में है। यह विषय शतपथ ब्राह्मण में भी आया है।

(३) बृहदारण्यक के अ० ४ के ४ ब्राह्मण में ये वचन हैं–

"तद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रापादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते, एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते, पित्र्यं वा, गन्धर्वं वा, दैवं वा, प्राजापत्यं वा, ब्राह्मं वा अन्येषां वा भूतानाम् ।"

अर्थ–जैसे स्वर्णकार पुराने स्वर्ण की मात्रा लेकर अन्य नवीनतर व कल्याणतर रूप बनाता है, इसी तरह यह आत्मा इस शरीर को नष्ट करके, अविद्या को पार करके अन्य नवीनतर और कल्याणतर रूप को धारण करता है–चाहे पितृ लोक में, वा गन्धर्व लोक में वा प्रजापति लोक में वा ब्राह्म लोक में, अथवा अन्य भूतों में ।

इससे उपनिषत् का यह भाव प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म में जीव साधारणतया नया शरीर तो धारण करता ही है, पर वह पहले शरीर की अपेक्षा **श्रेष्ठतर** होता है जो **'कल्याणतर'** शब्द का अर्थ है। यह वचन बहुधा इसी भाव को प्रकट करने वाला समझा जाता है । यह अर्थ युक्त भी है। श्री अरविन्द ने सृष्टि का उद्देश्य जीव की आध्यात्मिक उन्नति ही माना है । थियोसोफ़िकल सोसायटी का भी यही मत है ।

उत्तर–वैदिक सिद्धान्त इतनी मात्रा में तो श्री अरविन्द जी या थियोसोफ़िकल सोसायटी से सहमत है कि "सृष्टि का उद्देश्य जीव की आध्यात्मिक उन्नति है ।" परन्तु श्री अरविन्द जी या थियोसोफ़िकल सोसायटी के 'जीव' के लक्षण के विषय में मतभेद हैं । जीव को वे लोग आर्यसमाज की भाँति अनादि अनन्त स्वीकार नहीं करते । अत: उनकी आध्यात्मिक उन्नति भी भिन्न प्रकार की हो सकती है । **आधुनिक विकासवादी जो डार्विन के पथानुगामी**

हैं चेतन जीव को न मानते हुए भी जड़ जगत् में विकास मानते और उसी जड़ जगत् के विकसित रूपों को चेतना मानते हैं। उनके मतानुसार तो आध्यात्मिक उन्नति एक निरर्थक चीज है। अधिक विश्लेषण करने से श्री अरविन्द और थियोसोफी के विचार भी लगभग वैसे ही सिद्ध होंगे।

१४ प्रकार की योनियाँ तो पुराण लेखकों की काल्पनिक प्रतीत होती हैं। मनुष्य से निम्न ५ प्रकार की सृष्टि तो प्रत्यक्ष देखने में आती है। ऊपर आठ योनियाँ तो प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनके देश या कार्य क्षेत्र का कोई प्रमाण नहीं। अत: या तो उनको मनुष्य योनि के ही सभ्यता की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न स्तर मान लिया जावे या उनको मानवी मस्तिष्क की उपज ही कहना पड़ेगा। लोक में तो कुछ लोग भूत, प्रेत, पिशाच, जिन आदि की भी पृथक् योनियाँ मानते हैं जिनको मनुष्य-योनि से निचला ही मानना पड़ेगा। यह प्रश्न में दी हुई पाँच योनियों के अन्तर्गत नहीं हैं। यह ठीक है कि "पुराणों में यह स्वर्ग की अवस्थाएं मानी गई हैं और यह सिद्धान्त है कि जीव एक नियत समय तक इन योनियों में रह कर अपने कर्मानुसार फिर लौट कर मनुष्य योनि में आता है। मोक्ष का साधन मनुष्य योनि ही में है।" परन्तु हम को पुराणों का यह सिद्धान्त ठीक नहीं जंचता। पुराणों ने स्वर्ग को एक स्थान विशेष माना है जहाँ ये "दिव्य योनियाँ" रहती हैं। ये भी शुभ अशुभ कर्म करती होंगी, और उनके अनुसार उनको अच्छा बुरा फल भी मिलता होगा और इसी के अनुसार मृत्यु के पश्चात् ही वे मनुष्य योनि में आती होंगी फिर बताइये कि इनकी 'दिव्यता' का क्या अर्थ हुआ ? **और यदि मनुष्य योनि ही मोक्ष का साधन है और ये योनियाँ नहीं तो इनको मनुष्य योनि**

से अच्छा और ऊँचा क्यों माना जाये ? यदि ये केवल भोग योनियाँ ही हैं और कर्म योनि नहीं तो सैकड़ों और लाखों गुना आनन्द भी किस काम का ? क्योंकि उनका उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति नहीं। कर्म क्षेत्र नहीं, सैर सपाटा मात्र है । भोग है अपवर्ग नहीं ।

बृहदारण्यक के उपरि-लिखित वाक्य में "कल्याणतरं रूप तनुते" ऐसा आया है । 'कल्याणतरं' तरप्-प्रत्ययान्त है और सापेक्षिक शब्द है । कल्याणतर का अर्थ है वह अवस्था जो पिछली अवस्था से अधिक कल्याण कारक हो अर्थात् "आध्यात्मिक उन्नति" में अधिक साधक हो । हम प्रश्न कर्त्ता के इतने वाक्य से पूर्णतया सहमत हैं–'इससे उपनिषद् का यह भाव प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म में जीव साधारणतया नया शरीर तो धारण करता ही है पर वह पहले शरीर की अपेक्षा श्रेष्ठतर होता है जो "कल्याणतर" शब्द का अर्थ है । यह वचन बहुधा इसी भाव को प्रकट करने वाला समझा जाता है, यह अर्थ युक्त भी है।" हम भी इसी अर्थ को युक्त समझते हैं । यहाँ तक कि 'साधारणतया शब्द की भी आवश्यकता नहीं समझते परन्तु 'कल्याणतर' का अर्थ हम भिन्न लेते हैं, 'कल्याणतर' का अर्थ है अध्यात्म की उन्नति में अधिक साधक । अथवा अध्यात्म की अवनति में कम बाधक । ऊपर हम बता चुके हैं कि हत्यारे का मानव शरीर अध्यात्म की अवनति में शेर के शरीर की अपेक्षा अधिक बाधक और कम साधक है । **अतः शेर की योनि उस हत्यारे की मनुष्य योनि से अधिक "कल्याणतरं रूपं" हुई** । ऐसा ही अन्यत्र भी समझ लीजिये। किसी डाकू का स्वेच्छाचारी होना जेलख़ाने की अपेक्षा उसकी अध्यात्म की उन्नति में अधिक बाधक है। अतः उसके लिये जेल 'कल्याणतर' हुई । अच्छे आदमी के लिये इससे

विपरीत होगा । जब माता पिता अपने बच्चे को बुरी संगति में पड़ा देखते हैं तो उसके आने जाने पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं । क्योंकि वह अवस्था उन्नति में अधिक बाधक है और नियन्त्रण कल्याणतर है । इसलिये उपनिषद् में ऊपर के वाक्य में **"अन्येषां वा भूतानाम्"** अन्य योनियों का उल्लेख है ।

इस प्रकार कर्म के सिद्धान्त का यथार्थ ज्ञान हमारे अध्यात्म की उन्नति के उद्देश्य की पूर्ति करता है।

कुदिन और सुदिन

प्रश्न--कभी-कभी हमारे कुदिन आते हैं । सोना छूते हैं मिट्टी हो जाता है । हर काम में असफलता मिलती है । दुःख पर दुःख आ पड़ते हैं । इसी प्रकार जब सुदिन आते हैं तो मिट्टी छूते हैं तो सोना हो जाता है । सुख पर सुख आते हैं । इसी से लोग शकुन लिया करते हैं "दिन अच्छे हैं या बुरे ?" इसकी कर्म के सिद्धान्त से कैसे संगति लगाते हो ?

अनिष्ट में घबराओ नहीं-

उत्तर--'दिन' तो काल या समय का एक भाग है । दिन न 'सुदिन' होते हैं न 'कुदिन' । जब **पिछले पाप कर्म का विपाक होता है तब दुःख मिलता है । और जब पिछले पुण्य कर्म का विपाक होता है तो सुख मिलता है ।** ऐसी बात नहीं है कि निरन्तर दुःख ही दुःख हो या निरन्तर सुख ही सुख। कभी-कभी अशुभ के पीछे शुभ और कभी-कभी भारी शुभ के पीछे अशुभ देखा जाता है । इतिहास बताता है कि अमुक राजा ने आज अपने शत्रु को मार कर विजय मनाई और ठीक चार दिन पीछे दूसरे शत्रु ने उसको पराजित करके मार डाला।

साधारण लोगों के जीवन में भी ऐसी घटनाएं नित्य देखी गई हैं। **इसलिये शकुन और अशकुन की बात केवल कल्पना मात्र है और मानसिक भ्रम है।** कर्मों का कोई विपाक ऐसा नहीं होता जो अगले कर्म करने के लिये हमारी स्वतन्त्रता में बाधक हो सके। जीव कर्म करने में सदैव स्वतन्त्र है। कोई चीज़ इस स्वातन्त्र्य को हम से छीन नहीं सकती। अत: भारी अशुभ से घबड़ाना नहीं चाहिये और न उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुभ पर इतराना चाहिये। अनिष्ट से घबराओ मत। इसके प्रभाव को कम करने का 'शुभ कर्मों' द्वारा यत्न करते रहो। और इष्टों पर इतराओ मत इससे अगले शुभ कर्मों में प्रेरणा ग्रहण करो। **दु:खों के निवारण के लिये अधर्म कभी न करो और सुखों में धर्म को कभी न भूलो।**

प्रभु की दयालुता

परमेश्वर की दयालुता के विषय में सदैव कुछ न कुछ शंकाएं रही हैं। कुछ लोग ईश्वर को न्यायकारी तो मानते हैं, परन्तु दयालु नहीं। कुछ न न्यायकारी मानते हैं न दयालु। कुछ न्यायकारी भी मानते हैं और दयालु भी, परन्तु उनका मत है कि ईश्वर न्याय या दया करना चाहता तो है परन्तु अपनी इच्छा को पूरा करने में अशक्त है।

कम से कम एक बात तो लगभग सर्वसम्मत है कि ईश्वर अन्याय और अदयालुता को संसार से मिटाने में सफल नहीं हुआ। वह यदि करता भी है और कर भी सकता है तो भी दूसरों को अदयालुता करने देता है। इसी प्रकार चाहे स्वयं न्याय करता भी है और कर भी सकता हो फिर भी अन्याय रोकने में सफल नहीं हो सका।

यह हैं प्राय: उनके विचार जो सृष्टि के कार्यक्रम के

समालोचक हैं । अनीश्वरवादिता का बीज यहीं से आरम्भ होता है ।

जो पूर्ण ईश्वरवादी या यों कहना चाहिये कि पूरे भक्त हैं वे न सृष्टिकर्त्ता के समालोचक हैं न सृष्टिक्रम के । वे आँखें बन्द करके मान लेते हैं कि जो कुछ करता है ईश्वर ही करता है और वह सदा अच्छा ही करता है, बुरा नहीं करता । वे ईश्वर को पूर्णरूपेण दयालु मानते हैं, सुख देता है तो भी दया करके । दुःख देता है तब भी दया करके । उनकी दृष्टि में ईश्वर दयालु है, न्यायकारी नहीं, न्याय करता तो हम पापियों को कुछ भी सुख न होता । हमारे पाप बहुत हैं । उनकी तुलना में दुःख बहुत कम हैं। बाइबिल कहती है (Judge not that thou mayst not be Judged.) (किसी के कामों को मत तोलो कि कहीं कोई तुम्हारे कामों को न तोलने लगे)

यह "आलोचना-विरोध" भी अन्त में नास्तिकता की ही पुष्टि करता है । क्योंकि मनुष्य वास्तविक घटनाओं की कब तक उपेक्षा कर सकता है ? कभी कभी तो आँखें खोलनी ही पड़ती हैं । मुसलमानों की एक नित्योक्ति है-

वल्लाह आलम । (अर्थात् ईश्वर ही ठीक ठीक जानता है) परन्तु फिर भी मुसलमानों में दार्शनिक भी हुए जिन्होंने अपने स्वभाव, अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार विचार किया और तर्क वितर्क करके कुछ सिद्धान्त निश्चित किये ।

यह विश्वव्यापी प्रवृत्ति-

ईश्वर दयालु है या नहीं । संसार में दयालुता है या नहीं इस प्रश्न को भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हैं । परन्तु निर्दयी से निर्दयी और अन्यायी से अन्यायी भी दया और न्याय को

अच्छा और निर्दयता और अन्याय को बुरा समझता है । वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ न्याय भी करें और दया भी करें । यदि दया करना उसके लिये न्याय से अधिक इष्ट हो तो वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ न्याय की अपेक्षा दया करें । यदि एक विद्यार्थी न्याय करने से फ़ेल होता है और दया से पास, तो उसकी इच्छा होती है कि परीक्षक न्यायी होने की अपेक्षा दयालु हो तो अच्छा। **यदि एक न्यायाधीश न्याय करके दण्ड देता है और दया करके क्षमा कर देता है तो अपराधी की इच्छा यह होती है कि न्यायाधीश न्यायाधीश होने के स्थान में दयाधीश या क्षमाधीश होता तो अच्छा होता ।**

यह प्रवृत्ति विश्वव्यापी क्यों है और इसका विश्व पर क्या प्रभाव पड़ता है इस को बड़ी गम्भीरता से सोचना चाहिये ।

यह प्रवृत्ति विश्वव्यापी है इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। क्यों है यह प्रश्न कठिन है । कौन चाहता है कि लोग उस पर निर्दयता करें । वह न्याय से तभी डरता है जब न्याय के साथ निर्दयता होती हो । इसलिये दया चाहने की इच्छा विश्वव्यापी है । निर्दयता के लिये घृणा भी चाहे उतनी ही विश्वव्यापी न हो तब भी इसका आधिक्य है । अपवाद कम मिलेंगे ।

इससे एक बहुत बड़े मौलिक सिद्धान्त का पता चलता है। वह यह कि समस्त सृष्टिक्रम के मूल में दया है । जैसे वृक्षों के मूल में एक ऊर्जा या रस होता है । वह दृष्टिगोचर न होते हुए भी हर डाली और हर पत्ते में ओत प्रोत होता है । ऐसे ही यह दया का भाव है जो समस्त प्राणियों के आन्तरिक जीवन को अनुप्राणित करता रहता है । यही कारण है कि यदि हम प्राणियों के परस्पर व्यवहार

के अंक इकट्ठे कर सकें या करें तो हम को ज्ञात होगा कि सृष्टि में दया की अपेक्षा निर्दयता कम है; और जब निर्दयता एक सीमा से बढ़ती है तो समस्त सृष्टि काँप जाती है। विरोध की आवाज़ तेज़ हो जाती है। त्राहि माम् ! त्राहि माम् ! का शोर होने लगता है। हर मनुष्य कहता है 'त्राहि माम्' ! किससे कहते हैं 'त्राहि'? इस लोट् लकारयुक्त क्रिया का सम्बोधन किसके प्रति है यह पता नहीं। हम दया को मांगते हैं। जानते नहीं कि किससे ? क्या इतनी सर्वव्यापी इच्छाएं कोई मूल नहीं रखतीं ? क्या यह सब भ्रम ही भ्रम है ? भ्रम इतना विश्वव्यापी नहीं होता।

दया का दूसरा नाम ही न्याय है। क्योंकि जैसे हम चाहते हैं कि दूसरे हम पर दया करें, उसी प्रकार यदि हम यह भी चाहने लगें कि हम उन पर दया करें तो यही न्याय हो जाता है। न्याय क्या है ? दया का संतुलन ! 'तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें' इसी को तो न्याय कहते हैं। इसलिये न्याय दया का विरोधी नहीं। बिना न्याय के दया अधूरी है, एकाङ्गी है, लंगड़ी है, एक पक्षी है उभयपक्षी नहीं। जो परीक्षक मोहन को दया करके अधिक अंक देता है वह सोहन के साथ अदया करता है, क्योंकि मोहन ने बिना योग्यता के उस स्थान को पा लिया जिस से सोहन वंचित कर दिया गया। जो प्रयोग सोहन के साथ निर्दयता का कारण हुआ वह मोहन के लिये भी हो सकता है और यदि ऐसा होने लगा तो पानी मिला हुआ दूध भी न रहेगा, केवल पानी ही पानी होगा जिसमें एक बूँद भी दूध न होगा। ऐसी दया को दया नहीं, पक्षपात, धींगाधींगी जिसकी लाठी उसकी भैंस, अन्धेर नगरी आदि आदि नामों से सम्बोधित करते

हैं। जब दया न्याय से थोड़ी ही विचलित होती है तो पता नहीं चलता जैसे एक मन दूध में एक पाव पानी परन्तु जब ऐसे दयालु पुरुषों की भरमार होने लगती है तो इसको कोई दया नहीं कहता। अन्याय दया को नष्ट कर देता है। इसलिये वस्तुतः जहाँ न्याय है वहीं दया है। एक ही चीज़ है। उसको हम दो दृष्टिकोण से देखते हैं। ज्यों-ज्यों दया और न्याय में विरोध होता जाता है, त्यों-त्यों दया और न्याय दोनों का ह्रास होने लगता है। न दया रहती है न न्याय। **वस्तुतः जिस क्षण दया से न्याय हटने लगा और न्याय से दया हटने लगी, उसी क्षण दया और न्याय के ह्रास का आरम्भ हो गया।** पहले सूक्ष्म था, शनैः शनैः स्थूल हो गया। जब विरोध बहुत बढ़ गया तब मालूम हुआ कि दोनों नहीं रहे न दया न न्याय ! वस्तुतः दया ने न्याय को दबाया नहीं, न न्याय ने दया को। **जब दया न्याय को दबाने चली तो उसने स्वयम् अपने को दबा लिया। जब न्याय दया को दबाने चला तो उसका स्वयं ह्रास होने लगा।** कुत्ता जब हड्डी के मुँह में छिद जाने से अपना ही रक्त चूसता है तो वह नहीं समझता कि मैं अपना रक्त चूस रहा हूँ। इसलिये दया से द्रवीभूत होकर जो न्याय से विचलित होता है, वह वस्तुतः निर्दयता आरम्भ कर देता है। इसलिये दया और न्याय मूल में एक हैं। वह उस समय और उसी को भिन्न प्रतीत होते हैं, जिसमें जिस समय स्वार्थ आ जाता है। स्वार्थ जीव की सब से बड़ी निर्बलता है। **मनुष्य में जितना स्वार्थ कम होता जाता है उतना ही वह न्याय और दया की समानार्थकता का अनुभव करने लग जाता है।**

इतनी बात समझ लेने के पश्चात् जो कई पक्ष हमने इस

लेख के आरम्भ में प्रदर्शित किये थे, उनकी कठिनाई कम होने लगती है। हमारा दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। और चाहे हम सृष्टिकर्त्ता को मानें या न मानें, सृष्टि हम को इतनी अनियमित और उच्छृङ्खल दृष्ट नहीं होती।

दया व न्याय का जन्म कहाँ व कैसे ?

अब एक और बात पर विचार कीजिये। कल्पना करो कि आप अकेले एक ऐसे टापू में रहते हैं जहाँ कोई अन्य प्राणी है ही नहीं और आप के जीवन के भोजन आदि जितने साधन होने चाहिए वे सब प्राप्त हैं तो आप किस पर दया करेंगे और किसके प्रति न्याय? न दया का प्रसंग होगा न न्याय का परन्तु यदि कुछ काल के पश्चात् एक और मनुष्य आ जाय या कम से कम एक कुत्ता ही आप के साथ रहने लगे तो दया और न्याय दोनों भावों का विषय उपस्थित होने लगता है क्योंकि भोग्य पदार्थों में किसी दूसरे का साझा हो जाता है। उसके व आप के व्यवहार आरम्भ हो जाते हैं और प्रत्येक कर्म जो आप उसके प्रति करते हैं या वह आप के प्रति, उसमें दया, निर्दयता, न्याय या अन्याय का कुछ न कुछ पुट रहता है। यदि वह और आप आधे-आधे पर सन्तुष्ट हो जाते हैं तो इसको न्याय कहते हैं। अर्बी भाषा में इसको 'इन्साफ़' कहते हैं। 'इन्साफ़' का अर्थ है निस्फ़ निस्फ़ करना। निस्फ़ का अर्थ है–आधा। यह अर्द्धीकरण ही न्याय है परन्तु यदि आप या उसने आधे से अधिक की इच्छा की तो इसको न्याय न कह कर अन्याय कहेंगे और यह होगी निर्दयता। जब एक ही भोग्य पदार्थ में बहुत से साझीदार होते हैं जैसे एक परिवार, एक ग्राम, एक नगर, एक देश या संसार भर में तो हर एक अपने उचित भाग से अधिक लेने का यत्न करता है। यही अन्याय और निर्दयता का

मूल है । जब दो साझीदार थे तब कोई निर्णायक न था । निर्णायक का अर्थ है न्याय करने वाला । निर्णायक णीञ् प्रापणे धातु से सिद्ध होता है । और न्याय शब्द भी वस्तुतः इसी धातु से सिद्ध होना चाहिये। पाणिनि महाराज के सीधे नियमों द्वारा अथवा निपातन से । भाव वही है । यदि साझीदार बहुत हुए तो न्यायधीश, न्यायालय, उच्च न्यायालय आदि का प्रश्न उठता है । अर्थात् जिन दो व्यक्तियों में झगड़ा है उसका निर्णय कोई तीसरा व्यक्ति करे जो उन दोनों में से किसी के भोग में साझीदार नहीं है। लौकिक न्यायालयों में यही होता है। यत्न किया जाता है कि ऐसे निर्णायक या न्यायाधीश हों जिनका प्रतिद्वन्द्वियों में से किसी के लाभ से सम्बन्ध न हो । न्यायालयों का न होना, न केवल न्याय की हत्या है अपितु दया की भी । दया तो सभी को इष्ट है । सभी चाहते हैं कि किसी को उनके प्रति अदया करने की आज्ञा न हो । यही प्रवृत्ति है जो जंगली जातियों को भी एक राजा चुनने के लिये प्रेरित करती है और सभ्य जातियों में न्यायालयों या अन्तर्जातीय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्वाचन को सम्भव बनाती है । यदि मनुष्य जाति में यह भाव विश्वव्यापी अतएव स्वाभाविक न हो तो कोई किसी न्यायालय को स्वीकार न करे, और वह भयानक स्थिति हो जाये कि कोई उसको सहन न कर सके । आप यदि भिन्न-भिन्न युगों की भिन्न-भिन्न जातियों के न्यायालयों के रूप और विधान आदि के इतिहास पर दृष्टि डालें तो आपको शीघ्र ही पता चल जायेगा कि न्याय और दया दोनों का एकीकरण ही समस्त धर्मशास्त्र का मूल है ।

दया और न्याय का ध्येय क्या है ?

"स्वस्य च प्रियमात्मनः" यह न्याय का भी ध्येय है और

दया का भी । श्रुति, स्मृति, सदाचार अथवा धर्म के अन्य प्रकार तो इस मूल ध्येय को सींचने के साधन मात्र हैं । यदि न्याय को साधारण मनुष्य स्थापित कर सकते तो 'सदाचार:' (सताम्, विशेषपुरुषाणाम् आचार:) की आवश्यकता न पड़ती । **सत्पुरुषों में भी उत्कृष्ट माने गये स्मृतिकार ।** क्यों ? इसलिये कि वर्तमान जीवित **सत्पुरुषों में सम्भव है कि किसी दल के प्रति कुछ मोह हो और न्याय में कुछ मिलावट हो जाये** परन्तु भूतकाल के महापुरुष जो स्मृतिकार हुए हैं आजकल के किसी प्रतिद्वन्द्वी से सम्बन्ध नहीं रखते । वह उन भोगों में साझीदार नहीं हैं जिनके ऊपर झगड़ा है अत: वे अधिक उत्कृष्ट न्यायनिर्णायक हैं । **परन्तु सब से अधिक उपयोगी माना श्रुति को, क्योंकि परमात्मा तो संसार के किसी भोग्य पदार्थ का भोक्ता नहीं ।** "अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति"। (ऋग्वेद) । ऐसी सत्ता यदि न्याय करेगी तो वह सच्चा न्याय होगा। सब के भाग बराबर दिये जायँगे । बन्दरबाँट न होगी । **यदि बिल्लियां किसी बन्दर के पास न जाकर किसी मशीन के पास जातीं तो दोनों को बराबर भाग मिल जाता ।** बन्दर ने अन्याय क्यों किया? अपने स्वार्थ के लिये । अत: उन दोनों बिल्लियों के प्रति निर्दयता हुई । यदि निर्दयता न होती तो अन्याय की शिकायत भी न होती। जो निर्दयता करता है उसी को अन्यायी कहते हैं, जहाँ निर्दयता की शिकायत नहीं वहाँ अन्याय की भी नहीं। यदि कोई मनुष्य आपके घर से कोई ऐसी चीज़ उठा ले जाये जैसे कूड़ा, जिससे आपको निर्दयता की अनुभूति न हो तो आप उसको अन्यायी भी न कहेंगे, न न्याय कराने के लिये किसी न्यायाधीश का आश्रय लेंगे । इससे हम इतनी बातें सिद्ध कर सकते हैं—

(१) न्याय और दया समानार्थक हैं अर्थात् इनका 'अर्थ' या 'प्रयोजन' एक ही है। 'प्रयोजन' का मौलिक अर्थ लीजिये। योजना करने वाला, साधक, प्रेरक। किसी कर्म में प्रवृत्ति कराने वाला अर्थात् मनुष्य में जिन कर्मों की प्रवृत्ति न्याय उत्पन्न करती है उन्हीं को दया उत्पन्न करती है। अतः जहाँ स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में दया और न्याय को समानार्थक बताया वहाँ कुछ अनर्थ नहीं किया।

(२) दूसरी बात यह है कि न्याय और दया का प्रश्न तब उत्पन्न होता है, जब भोग्य पदार्थों के भोगने वाले बहुत होते हैं। सृष्टि के सभी पदार्थ भोग्य हैं। घास, फूस, आग, पानी, सूर्य, वायु इत्यादि। इनके भोगने वाले हैं अनन्त मनुष्य तथा उनके साथी अनन्त प्राणी यह सब स्वार्थवश दूसरे के भोजन में से अपने भाग से कुछ अधिक लेना चाहते हैं, यही अन्याय है और यही दूसरों के प्रति निर्दयता। इसको आप कुकर्म, अशुभ कर्म या पाप कह सकते हैं। इनको रोकने वाला न्यायाधीश है। लौकिक हो अथवा लोकोत्तर। वह आपको निर्दयता करने से रोकता है। इसको आप अनुचित रूप में निर्दयता कह सकते हैं। यह निर्दयता नहीं, दया है।

प्रभु भोगों में भागीदार नहीं–

(३) ऐसा सर्वोत्कृष्ट निर्णायक या न्यायाधीश परमेश्वर ही हो सकता है, क्योंकि उसका सृष्टि के भोगों में कोई भाग नहीं है। मनुष्य का कुछ न कुछ दूरस्थ स्वार्थ हो सकता है। ईश्वर का नहीं। अतः वह सच्चा दयालु भी है तथा सच्चा न्यायकारी भी।

जो लोग ईश्वर की सत्ता पर विश्वास नहीं करते वे भी दया और न्याय के भावों से सर्वथा रिक्त नहीं हैं और न उनको निर्दयता

और अन्याय पसन्द है। वे भी यदि चेतन सर्वज्ञ ईश्वर की निष्पक्षता पर विश्वास नहीं रखते तो भी वह अचेतन जड़ जगत् के ऐसे विश्वव्यापी विधान पर विश्वास रखते हैं जो प्रतिद्वन्द्वियों में से किसी दल या व्यक्ति का पक्षपात नहीं करता। उसका न्याय सब न्यायाधीशों से अधिक उत्कृष्ट और पक्षपातशून्य है। अतः उसकी दयालुता भी स्पष्ट ही है।

पाप और दुःख का सहज सम्बन्ध–

पाप और दुःख का एक दूसरे के साथ समवाय सम्बन्ध है, यदि आप किसी बच्चे को पेट के दर्द से चिल्लाते देखें तो झट से पूछने लगेंगे कि क्या गड़बड़ खा लिया। यदि आप किसी को पिटते और चिल्लाते देखें तो झट पूछोगे कि भाई इसने क्या बिगाड़ा है ? यदि किसी को हथकड़ी पहने बाज़ार से गुज़रते देखें तो झट पूछेंगे कि क्या इसने चोरी की है ? इसका यह अर्थ है कि इसने कोई अनिष्ट कर्म किया है। साधारण भूल हो, वैधानिक अपराध हो या पाप हो। यह सब सजातीय शब्द हैं, जो पाप के समानार्थक हैं और उनका दुःख से निमित्त, नैमित्तिक या कारण-कार्य का सम्बन्ध है। **कभी कभी आप किसी दुःख के कारण को जान नहीं पाते परन्तु तलाश अवश्य करते हैं।** आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध तापों के मूल कारण को जानने की विद्वानों को सदैव उत्कण्ठा रही है। इतिहासज्ञों ने पता लगाने का यत्न किया है कि किसी देश या जाति के उत्थान पतन के कौन कौन कारण थे अर्थात् उनके लोगों ने क्या पाप या पुण्य किये थे। वैद्यों की यह उत्कण्ठा रही है कि पता चला सकें कि किन शारीरिक पापों के कारण रोग उत्पन्न होते हैं। आचारशास्त्र के विज्ञ हमारे दुःखों

का कारण हमारी भूलों में देखने का यत्न करते हैं। इन में ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों ही शामिल हैं। अनीश्वरवादियों ने ईश्वर या उस के पर्य्यांय शब्दों को त्याग दिया है। वह पाप और पुण्य शब्दों का प्रयोग करने में भी घबराते हैं कि कहीं ईश्वरवाद आकर उनके गले न लग जाये। परन्तु उपदेश तो वह भी देते हैं। उन्होंने भी शुभ-अशुभ कर्म या कर्त्तव्य अकर्त्तव्य को छोड़ा नहीं है। अनीश्वरवादी देशों में भी उपदेश, उपदेष्टा और उपदेश सुनने वालों का अस्तित्त्व नष्ट नहीं हुआ। इससे सिद्ध है कि पाप और दुःख का परस्पर सम्बन्ध है। जहाँ पाप होगा वहाँ दुःख होगा।

आत्म-बल की सब से बड़ी पहचान–

परन्तु जैसे स्वार्थ निर्दयता और अन्याय को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार वह पाप और दुःख या पुण्य और सुख के यथार्थ सम्बन्ध के ठीक-ठीक परिज्ञान में भी बाधक होता है क्योंकि **मनुष्य अपने को सब से कम पापी और सब से अधिक दुःखी समझता है।** अर्थात् वह समझता है कि समस्त संसार का हर एक व्यक्ति उसकी अपेक्षा अधिक अन्यायी और अदयालु है। इसलिये जगत् के दुःखों में सब से बड़ा भाग उसी को मिला है परन्तु यह वास्तविकता तो नहीं है। यही कारण है कि बहुत से दुःखों के ठीक ठीक कारणों को हम जान नहीं सकते या जानना नहीं चाहते। दूसरों के पापों से क्यों सम्बद्ध करना चाहते हैं ? क्यों हम उन दुखों में अपने पापों को देखने का यत्न नहीं करते ? यही हमारी सब से बड़ी निर्बलता है। **आत्म-बल की सब से पहली पहचान यह है कि हम अपने कर्मों और अपने भोगों का सम्बन्ध जान सकें।** यदि ऐसा हो जाय तो विश्व की बड़ी से बड़ी समस्याएं हल हो जावें।

दुःख और उनकी एक साथ भयानकता–

बहुत से दुःख हम को अकारण दिखाई पड़ते हैं, और उन की भयानकता हम को इसलिये और भी भयभीत कर देती है कि उन को हम एक साथ देखते हैं । किसी बड़े नगर के अस्पताल में जाइये । अस्पताल में आने से पूर्व वह रोगी अपने अपने घरों में बंटे हुए थे । थे अवश्य आपका ध्यान न था । जब वे इकट्ठे होकर एक स्थान पर आये तो दृश्य अधिक बीभत्स हो गया । लोग रोज़ मरते हैं परन्तु श्मशान में आठ दस लाशें एक साथ जलती हुई देख कर बड़ा बुरा लगता है । एक रेल दुर्घटना में एक साथ सौ दो सौ मृत्युओं को देखकर बड़ा रोष उत्पन्न होता है । यद्यपि हिसाब लगाने से मृत्यु के अनुपात में बहुत बड़ी वृद्धि नहीं होती । मैं बीमा कम्पनी के एक सुविज्ञ कर्मचारी से बातचीत कर रहा था । कम्पनियों को अचानक मृत्यु, आत्महत्या, लड़ाई, भूकम्प आदि में मरने वालों को भी एक बड़ी धनराशि देनी पड़ती है । फिर कम्पनियों को इससे क्या लाभ होता है ? उन्होंने बताया कि क्वेटा आदि के भूकम्पों या बड़े से बड़े युद्ध या हिरोशिमा की बमबारी से जो मृत्युएँ हुईं, उनका प्रतिशतक अनुपात संसार भर की अंकगणना में कोई असाधारणता उत्पन्न नहीं करता । और कम्पनियाँ जितना भार लेने के लिये पहले से तैयार रहती हैं, उससे अधिक भार इन दुर्घटनाओं के कारण उठाना नहीं पड़ता । यह एक बड़ी सच्चाई है जो हमारे प्रकृत प्रश्न से विशेष सम्बन्ध रखती है । यदि हमारे समक्ष विश्व भर के प्राणियों के कर्मों और भोगों का एक लम्बे युग का चित्र होता तो हम समझ पाते कि हमारे पापों और हमारे दुःखों में क्या अनुपात है । और यह जगत् की शक्तियाँ अन्याय और अदयालुता को रोकने में कितनी सफल

हुई हैं। मनुष्य अन्याय या निर्दयता करने का विचार कर सकता है परन्तु क्या सदा सफल भी होता है ? क्या बहुधा उसके आन्तरिक विचार ही उसको अनिष्ट करने से रोक देते हैं ? कभी विश्व की अन्य शक्तियाँ उसके मार्ग में रुकावट उत्पन्न करती हैं। और कभी जिसको मनुष्य अपनी निर्दयता की सफलता समझता है वह भोक्ता के प्रति विपरीत फल को देने वाली होती है। जिन आकस्मिक दुर्घटनाओं में घराने के घराने एक क्षण में नष्ट हो गये उनके नष्ट होने से किस को दुःख हुआ ? आज कौन उसके लिये रोता है ? क्योंकि कोई रोने को बचा ही नहीं। मरने वालों को तो मृत्यु के पीछे पता भी न रहा होगा कि हम को क्या दुःख हुआ। यह है सृष्टि नियम का अन्तिम हस्तक्षेप। स्वतन्त्र प्राणियों के कर्म-स्वातन्त्र्य में सृष्टि हस्तक्षेप नहीं करती, क्योंकि ऐसा करने से तो कर्तृत्व नष्ट हो जाये। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता'। स्वतन्त्रता कर्तृत्व का लक्षण है। स्वतन्त्र जीव का कर्म ही न्याय, अन्याय, दया, निर्दयता की कोटि में आता है। अतः सृष्टि-नियम या ईश्वर के हस्तक्षेप करने का प्रसंग ही नहीं आता परन्तु भोगों में तो ईश्वर सदा ही हस्तक्षेप करता रहता है। कहीं कहीं थोड़ा; परन्तु अन्ततोगत्वा अधिक। इसीलिये कहा कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और फल पाने में परतन्त्र है। ईश्वर या सृष्टि-क्रम की एक व्यवस्था है। स्वातन्त्र्य की भी और परतन्त्रता की भी। इसीलिये मृत्यु के निमित्त अत्यन्त भयानक होने पर भी मृत्यु स्वयम् इतनी भयानक नहीं होती। **भयानकता मृत्यु के क्षण के इस पार है, उस पार नहीं।** इससे ईश्वर का न्याय तो है ही, दयालुता भी है। **जैसे घोर सुषुप्ति में उस समय के लिये त्रिविध तापों से छूट जाता है इसी प्रकार मृत्यु में भी ऐसा होता है।**

वेद कहता है–**"यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः"** । **अमृत और मृत्यु दोनों उसी की छाया हैं । उसी की अनुकम्पा हैं । इसलिये ईश्वर दयालु है ।**

उसने न्याय देकर दया क्या की–

एक प्रश्न का उत्तर देना है । यदि हमारे कर्मों का ही फल ईश्वर देता है तो उसने दया ही क्या की ? यद्यपि हम इस का दार्शनिक पक्ष दिखा चुके हैं । फिर भी लौकिक दृष्टि से इस पर मोटी रीति से विचार करते हैं ।

कल्पना कीजिये कि आपके गाँव में एक हलवाई रहता है जो ३) रु० सेर मिठाई बेचता है ! किसी को उधार नहीं देता । दाम कस कर लेता है । क्या आप उसके कृतज्ञ होंगे और उसकी दयालुता की अनुभूति आपको होगी ? वह कस कर दाम लेता है तब मिठाई देता है । कल्पना कीजिये कि वह दूकान लगाना बन्द कर दे या अन्यत्र चला जाय तो क्या ३) रु० ले जाकर आप एक सेर मिठाई क्रय कर सकेंगे ? नहीं। यदि दूसरे स्थान से मंगावें तो चार या पाँच रुपये सेर पड़ेगी और तत्क्षण न मिल सकेगी। उस समय आपको ज्ञात होगा कि हलवाई के होने से आपके नित्य १) या २) रु० सेर का लाभ होता था । उसकी इच्छा दया करने की न भी रही हो, परन्तु परिस्थिति आपके साथ दया करती थी ।

एक और दृष्टान्त लीजिये । किसी विश्वविद्यालय में परीक्षार्थी को उतने ही अंक मिलते हैं जितनी उसकी योग्यता उत्तर-पत्रों से सिद्ध होती है । विश्वविद्यालय आपके साथ कोई दया नहीं करता, आप ऐसा ही सोचते हैं और ऐसा ही कहते हैं परन्तु यह वास्तविक स्थिति नहीं है । जिन देशों या प्रान्तों में उच्च विश्वविद्यालय नहीं

है, वहाँ के विद्यार्थी इसी योग्यता के उचित माप के लिये बहुत सा धन व्यय करके दूर देशों को जाते हैं। उस समय ज्ञात होता है कि न्यायपूर्वक परीक्षा लेना भी दया है। यदि विश्वविद्यालय न हों तो परिश्रम की जाँच कौन करे और उसको प्रमाणित कर के उपाधियाँ कौन दे ?

न्यायरूपी दया व दयारूपी न्याय–

इन दो दृष्टान्तों से ज्ञात हो जाता है कि परिश्रम के फल की प्राप्ति के लिये साधन उत्पन्न करना भी दया है। क्योंकि आपके परिश्रमरूपी यज्ञ को सफल करने के लिये ये साधन उपकारक हैं। यज्ञ के ग्रन्थों में इस प्रकार के यज्ञ के अंगों को उपकारक कहा है। उपकारक कौन है ? जो कारक के कारकत्व में सहायक हों, सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक। सन्निपत्योपकारक वह साधन हैं जो निकटवर्ती हैं और हम जल्दी से पता लगा लेते हैं। जैसे किसी ने हम को खाना खिला दिया। भोजन से जो तृप्ति हुई उस में भोजन का दान सन्निपत्योपकारक है परन्तु यदि किसी ने रोटी के बजाय एक खेत दे दिया जिसको जोतने बोने से महीनों पीछे रोटी के दर्शन होंगे तो यह खेत का दान आरादुपकारक है। जो वस्तुएँ तत्काल सहायता करती हैं उनका अनुभव तो बच्चा भी कर लेता है परन्तु जो बहुत दूर से उपकार करती हैं उन को समझने के लिये बुद्धि लगानी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि हमारे परिश्रम का फल देना भी तो दया है। यह दया प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष है और केवल विचार करने से ही ज्ञात हो सकती है। आप अपने सोने को तुलवाने के लिये सुनार या सर्राफ़ के पास जाते हैं। वह आपके सोने को बढ़ा नहीं देता परन्तु तुलवा कर ही आप उसके कृतज्ञ होते हैं। परीक्षक का

परीक्षा लेना भी दया है । और यदि इस परीक्षा को वह **बिना स्वार्थ या पक्षपात के करे तो वह न्यायरूपी दया या दया रूपी न्याय होगा ।** लोग कहते हैं कि हमारे ही कर्मों को तोल कर फल दिया तो ईश्वर की दया क्या हुई ? वह नहीं समझते कि यदि वह ऐसी सृष्टि न बनाता, जिसमें आपको कर्म करने के लिये क्षेत्र मिल सके तो आप कर्म ही कैसे करते। और यदि उनका फल न देता तो कर्म स्वयं फल कैसे दे सकते ? जिन्होंने यूनिवर्सिटियाँ खोलीं या परीक्षा पटल बनाये उन्होंने हमारे ऊपर दया की परन्तु यह दया आरादुपकारक है । मोटी नहीं, बारीक है । स्थूल नहीं, सूक्ष्म है, प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष है । **'परोक्षप्रिया हि देवः ।'** देव लोग परोक्ष से परोक्ष, दूर से दूर अति दूर, अति गुप्त चीज़ों को भी देख कर उनका पता लगा लेते हैं । प्रत्यक्ष-प्रिय तो गधे भी होते हैं ।

अब एक बात रह गई । कर्म फल कैसे देते हैं ? जो कर्म हम करते हैं वह तो तभी नष्ट हो जाता है । फल न तो उसी काल में मिलता है न उसी देश में । देशान्तर और कालान्तर में जो यह फल मिलता है उसका कर्म के साथ कैसे सम्बन्ध जोड़ा जाय ? कुछ दार्शनिकों ने एक अदृष्ट की कल्पना की है । वह अदृष्ट क्या है ? यदि यही जान सकते तो उसे अदृष्ट क्यों कहते ? वह अदृष्ट भी है और अज्ञात भी, कुछ विद्वानों ने उसको केवल 'ईश्वर की व्यवस्था' कहा है । है तो व्यवस्था अवश्य, परन्तु वह मनुष्य के अल्पज्ञान से बाहर की चीज़ है । लौकिक शासन में भी इसके उदाहरण मिलते हैं । एक आदमी मनुष्य हत्या करता है और छिप जाता है । हत्या हुई उत्तर प्रदेश के एक गाँव में आज, और पकड़ा गया मद्रास के किसी नगर में चार वर्ष पीछे । यह देशान्तर और कालान्तर

का दण्ड अपराध से कैसे सम्बन्धित हुआ और किसने किया ? आप यही उत्तर देंगे कि राजकीय व्यवस्था थी । यह व्यवस्था कैसे काम करती रही ? यह साधारण जनता के लिये तो अदृष्ट ही था परन्तु शासकों के लिये समस्त सूत्रमाला दृष्ट रही होगी । यदि इसी दृष्टान्त को दूर तक फैलाया जाय, आज के जीव के किये कर्म युगान्तर या लोकान्तर में कैसे फलीभूत होते हैं, यह एक अदृष्ट बात है । **प्रत्यक्ष से परे है, परन्तु अनुमान से परे नहीं,** ईश्वर की व्यवस्था उसी प्रकार लोकान्तरों और युगान्तरों तक जा सकता है जैसे एक बड़े शासक की व्यवस्था उसके शासन क्षेत्र में काम करती है । जितना बड़ा शासन क्षेत्र होगा वहीं तक व्यवस्था काम करेगी । अतः जिन लोगों की समझ में नहीं आता कि इस जन्म में किये कर्म जन्मान्तर में कैसे फलित होते हैं, वे इतना विचार करना नहीं चाहते । क्या कारण है कि आक्सीजन और हाइड्रोजन के परमाणुओं का जो अनुपात प्रयाग में गंगाजल बनाता है, वही अनुपात अमेरिका की मिससिपी नदी में भी काम करता है । दो जलराशियाँ इतनी दूर हैं । उनमें कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं, परन्तु एक अदृष्ट नियम सूत्र है, जो दोनों दूरस्थ घटनाओं में घटित होता है । इसको आप ईश्वर की व्यवस्था कहें या कुदरत का कानून कहें, हैं ये दोनों अदृष्ट और अदृष्ट रूप से ही काम करते हैं । बीज के धर्मों का फल में कैसे प्रवेश होता है और किस परिमाण में, और उन धर्मों में अवान्तर क्रियाओं द्वारा कितना परिवर्तन होता है, यह है एक जटिल समस्या परन्तु कोई व्यवस्थापक है अवश्य जिसकी अदृष्ट व्यवस्था कर्म और फल में सम्बन्ध उत्पन्न करती है और **उस फल को भोगने वाला वही है जिसको कर्तृत्व प्राप्त है ।** जिस प्रकार सम्पूर्ण यज्ञ का फल यजमान को ही मिलता

है, क्योंकि यज्ञ किया ही उसके हित के लिये जाता है चाहे ऋत्विज कोई हो। द्रव्य कुछ भी हो और देवता कोई भी हो। इसी प्रकार–

कर्म प्रधान विश्व कर राखा।
जो जस करे सो तस फल चाखा॥

कर्म-फल-सिद्धान्त के बिना कैसी अन्धेर नगरी होती !

यह ईश्वर की दयालुता है कि कर्म को प्रधान करके हम को उसका फल चखाया। यदि यह नियम न होता तो जगत् की क्या गति होती, वह कैसी अन्धेर नगरी होती, इसकी कल्पना करने से भी हृदय काँप जाता है। व्यवस्थापक की व्यवस्था और उसका बिना लेशमात्र स्वार्थ के संचालन यह दयालु प्रभु के लिये ही संभव है। अत:–**'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।'**

***

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत

गंगा-ज्ञान-सागर (भाग-१)— पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के दुर्लभ लेखों व हिन्दी, अंग्रेजी व उर्दू में लिखे गए कई ट्रेक्टों, छोटी पुस्तकों व व्याख्यानों का संकलन। विषयों की विविधता के कारण सभी प्रकार के पाठक इसमें अपनी-अपनी सामग्री पाएगें। विद्वानों, लेखकों, उपदेशकों, शोध-छात्रों के लिए यह ग्रन्थ अनिवार्य है। गुरुकुलों के स्नातक, छात्र, नए-नए पुरोहित व युवक इसे पढ़कर अच्छे वक्ता, कथावाचक, लेखक व विद्वान बनेंगे।

पृष्ठ : ५७६, आकार : २०×३०/८

वेद प्रवचन— उपाध्याय जी की वेद-व्याख्या शैली तार्किकतापूर्ण, प्रशंसनीय तथा सुबोध है। यह ग्रन्थ जनसाधारण, पण्डितों एवं उपदेशकों के लिए उपयोगी है। स्वाध्यायशील पाठकों के लिए संग्रहणीय। पृष्ठ : ३६०, आकार : २३×३६/१६

सन्ध्या : क्या ? क्यों ? कैसे ?— जिस प्रकार आप शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भोजन करते हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिक और मस्तिष्क के स्वास्थ्य के लिए आप सन्ध्या अर्थात् ईश्वर के 'गुणों' का ध्यान करते हैं। पुस्तक में सन्ध्या का वास्तविक व्यवहारिक अर्थ तथा विधि-विधान प्रस्तुत है। पृष्ठ : १३२, आकार : २०×३०/१६

विवाह और विवाहित जीवन— विवाह और विवाहित जीवन की भावनाओं में जो परिवर्तन हो रहा है, इस पुस्तक में इस खतरे के विरूद्ध चेतावनी दी गई है और उसके निवारण के उपाय बताये गये हैं। पृष्ठ : १८४, आकार : २०×३०/१६

भगवत् कथा— भारतवर्ष में कथा सुनना धार्मिक कृत्यों में बहुत बड़ा स्थान रखता है। भगवत्-कथा इसी की पूर्त्ति के लिए लिखी गयी है। इसका मूल आधार उपनिषद् है। प्रायः सभी सामग्री उपनिषदों की हैं। पृष्ठ : १२८, आकार : २०×३०/१६

जीवात्मा—पुस्तक में 'मैं' और 'मेरा' शरीर, अहङ्कार, जीवात्मा के लक्षण, शरीर और शरीरी, स्मृति और विस्मृति, मस्तिष्क, समानान्तरवाद, प्रतिक्रियावाद, अभौतिक आत्मा, स्वप्न और सुषुप्ति, जन्म से पूर्व और मृत्यु के पीछे, पुनर्जन्म, मुक्ति, योनि-परिवर्तन, जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध आदि पर विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है। पृष्ठ : ३१६, आकार : २०×३०/१६

उपदेश सप्तक—वेदों के गूढ़ विषयों को बात-चीत के माध्यम से समझाया गया है। इसका उद्देश्य साधारण लोगों में वेद-प्रेम उत्पन्न करना है, ताकि वे वेदमार्ग पर चलने की प्रेरणा लेकर वेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करें।

पृष्ठ : ३२, आकार : २०×३०/१६

वैदिक मणिमाला—चुने हुए वेद-मन्त्रों की अत्यन्त उपयोगी, सरल, सुबोध, रोचक व मौलिक व्याख्या। इसमें वेद-मन्त्रों का भावार्थ अंग्रेजी भाषा में भी दिया गया है। जो लोग थोड़े गुड़ डालकर अधिक मीठे का स्वाद लेना चाहते हैं तो वे इसे पढ़ जाएँ।

पृष्ठ : ३६, आकार : २०×३०/१६

कर्म फल सिद्धान्त—पाप, पुण्य, दुःख, सुख, मृत्यु, पुनर्जन्म, जीव व ब्रह्म का सम्बन्ध विषयक अनेक मूलभूत प्रश्नों पर इस पुस्तक में युक्तियुक्त सप्रमाण प्रकाश डाला गया है। प्रश्नोत्तर शैली में अत्यन्त शुष्क विषय को उपाध्यायजी ने बड़ा रोचक व सरल-सुबोध बना दिया है। पृष्ठ : १२०, आकार : २०×३०/१६

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६